गणेश शंकर विद्यार्थी और साम्प्रदायिकता के सवाल

(एम० फिल० उपाधि हेतु लघु शोध–प्रबंध)

शोध-निर्देशक
डॉ० वीर भारत तलवार

शोध-छात्र
जगदीश चन्द्र

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली - 110 067
1995

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

21 जुलाई, 1995

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री जगदीश चंद्र द्वारा प्रस्तुत "गणेश शंकर विद्यार्थी और साम्प्रदायिकता के सवाल" शीर्षक लघु शोध प्रबंध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा किसी अन्य विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है। यह श्री जगदीश चंद्र की मौलिक कृति है।

प्रो॰ मैनेजर पाण्डेय
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली-110067.

डॉ॰ वीर भारत तलवार
शोध निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली-110067.

1995

विषय-सूची

			पृष्ठ संख्या
भूमिका	.....		क - ज
अध्याय - एक	:	जीवन-परिचय	1 - 23
अध्याय - दो	:	सांप्रदायिकता का दौर (1910-1930)	24 - 35
अध्याय - तीन	:	गणेश शंकर विद्यार्थी और सांप्रदायिकता	36 - 64
अध्याय - चार	:	निष्कर्ष	65 - 70
		परिशिष्ट	71 - 74

.....

भूमिका

गणेश शंकर विद्यार्थी का महत्त्व मूलत: दो कारणों से हमेशा बना रहेगा । एक तो इन्होंने अनेक कष्ट सहन करते हुए हिन्दी पत्रकारिता को बहुत उच्च नैतिक आदर्श दिए थे । दूसरे वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जीवन-पर्यन्त संघर्ष करते रहे और इस संघर्ष को जीवन की अंतिम साँस तक जारी रखते हुए साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिए । देश में ऐसे बहुत कम व्यक्तित्व हुए हैं जिनके मन, वचन और कर्म में एकरूपता हो । लेकिन गणेश शंकर में ये तीनों गुण आपस में गुँथे हुए थे । वे देश हित के बारे में सोचते थे, देश हित में जो कुछ दिखाई दिया वही अपने प्रिय अखबार "प्रताप" में भी लिखा। जैसा लिखा वैसा ही आचरण भी किया । स्वतंत्रता आंदोलन में अनेक जगहों से अखबार प्रकाशित होते थे तथा अनेक जगहों पर दंगे भी हुए थे,लेकिन मात्र गणेश शंकर ही ऐसे पत्रकार या नेता थे जिनके बराबर हमें दूसरा व्यक्तित्व खड़ा नहीं दिखाई देता है । लोग लिखने को तो बहुत कुछ लिख सकते हैं, कहने को भी बहुत कुछ कह सकते है लेकिन जब तक स्वयं आचरण न किया जाए तब तक लिखना और कहना निरर्थक है ।

आज से 65 वर्ष पूर्व (अर्थात् विद्यार्थी जी के बलिदान के समय) जो परिस्थितियां थीं आज भी वही परिस्थितियां राष्ट्र के सामने चुनौती बनकर खड़ी हैं । आजादी से पूर्व धर्म के नाम पर

राष्ट्र के विभाजन की आशंका थी । वह आशंका सच साबित हुई । हालाँकि गणेश शंकर विद्यार्थी धर्म के नाम पर राष्ट्र की कल्पना के विरोधी थे लेकिन दुर्भाग्य से राष्ट्र का धर्म के नाम पर विभाजन हुआ । एक धर्म के नाम पर बने राष्ट्रों में भी अन्दर ही अन्दर शुरू से अशांति चल रही है । गणेश शंकर ने हमें इसी खतरे की ओर सचेत किया था, जो आज सत्य सिद्ध हो रहा है ।

सन् 1915 में धर्म के नाम पर स्वतंत्र राष्ट्रों की बात की जाने लगी थी । हालाँकि गणेश जी उस समय मात्र 25 वर्ष के थे । उस समय वे युद्धोन्माद की छाया में भी राष्ट्रीयता और जातीयता, राष्ट्रीयता और धार्मिकता, राष्ट्रीयता और सामाजिकता के बीच फ़र्क को साफ़-साफ देख रहे थे और इस तथ्य से भली-भाँति अवगत थे कि "राष्ट्रीयता का जन्म देश के स्वरूप से होता है ।" यही नहीं राष्ट्रीयता और अंध-राष्ट्रीयता के बीच जिस अन्तर को पकड़ पाने में तिलक और सावरकर जैसे विचारकों को गड़बड़ाते देखा गया, उसे भी उन्होंने अपनी सही समझ से रेखांकित किया था । आज धर्म-निरपेक्षता का दम तो बढ़-चढ़कर भरा जाता है, लेकिन ऐसी धर्मनिरपेक्ष दृष्टि अपनाने का साहस कम ही लोगों में है । गणेश जी के लिए राष्ट्र प्यारा था, धर्म नहीं । वे धर्म के नाम पर राष्ट्र की कल्पना तक नहीं करना चाहते थे । यही कारण है कि जब देश आजाद हुआ उस समय

उनकी व्यक्त धारणा, जो आगे की पंक्तियों में लिखी जा रही है, सत्य सिद्ध हुई । गणेश जी हालांकि हिन्दू धर्म को मानने वाले थे, लेकिन कट्टर हिन्दूवादी दृष्टिकोण के पूर्णतया विरूद्ध थे । उनके विचार में धर्म के नाम पर राष्ट्र की कल्पना व्यर्थ है। भारत में राष्ट्रीयता की पुकार वे सुन चुके थे । उन्हें भारत के उच्च और उज्ज्वल भविष्य का विश्वास था । हिन्दू के नाम से जनता को मूर्ख नहीं बनाया जा सकता । ऐसा संभव ही नहीं है । इसी प्रकार के प्रलाप को वे राष्ट्र की उन्नति में बाधक मानते थे । यही कारण है कि 80 वर्ष पूर्व लिखी उनकी निम्नलिखित पंक्तियां आज भी चरितार्थ है । गणेश जी ने ये पंक्तियां 15 जून 1915 को "राष्ट्रीयता" नामक लेख में लिखी थी । यह हम उन्हीं की भाषा और शब्दावली में यथावत् प्रस्तुत कर रहे हैं ।

"हम जानते हैं कि एक दूसरे की परम्परा से आगत विश्वासों में गहरा अन्तर है । परन्तु राष्ट्रों और समाजों का उत्थान मतभेदों और विभिन्नताओं के प्रदर्शन से नहीं होता । यदि हिन्दुओं में अनुदारता है तो धर्म, देश, समाज, व्यवस्था और संस्कृति की रक्षा के नाम पर यह संकुचित अनुदारता उन्हें दूर करनी होगी । यदि मुसलमानों के परम्परागत विश्वास वर्तमान मानव स्वभाव की उच्चतम शालीनता के अनुकूल नहीं है, तो उन्हें भी इसमें परिवर्तन करना पड़ेगा । अन्य मुस्लिम देशों के निवासियों ने युगधर्म की आवश्यकता महसूस की है ।"

"कुछ लोग "हिन्दू राष्ट्र" चिल्लाते है । हमें क्षमा किया जाए, यदि हम कहें कि - नहीं । हम इस बात पर जोर दें - कि वे बड़ी भारी भूल कर रहे हैं । और उन्होंने अभी तक राष्ट्र शब्द के अर्थ ही नहीं समझे । हम भविष्यवक्ता नहीं, पर अवस्था हमसे कहती है कि अब संसार में हिन्दू राष्ट्र नहीं हो सकता । हम राष्ट्रीयता के अनुयायी हैं पर वही हमारी सब कुछ नहीं, वह केवल हमारे देश की उन्नति का उपाय भर है ।"

लेकिन उस दौर में लिखी उनकी बातें हमने नहीं मानी । और हम अतीत में की गई गलतियों को फिर दोहराने की ओर अग्रसर हैं । हमारी अधोगति न हो इसके लिए हमें आज अनेक गणेश शंकर जैसे व्यक्तित्वों की आवश्यकता है । यह लघु शोध ग्रन्थ गणेश शंकर के साम्प्रदायिक सद्भाव संबंधी उनके विचारों पर विशेष रूप से केंद्रित हैं । आज उनके विचारों का ठीक से मूल्यांकन हो तो निश्चय ही हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई जो समय-समय पर दंगे के रूप में सामने आती हैं, उनके विचारों का आचरण करने से पाटी जा सकती हैं । इसके साथ ही आज देश में भाषा विवाद चल रहा है। धर्मान्ध लोगों ने भाषा में भी धर्म को ढूंढ निकाला है । इसलिए भी इस प्रकार के शोध की प्रासंगिकता महसूस हुई । इस शोध का विषय ज्वलंत एवं सार्थक है । ऐसा मैं अनुभव करता हूँ । श्रद्धेय डॉ॰ वीर भारत तलवार ने इसी

विषय पर ध्यान केंद्रित कर उत्साह बढ़ाया । इस संबंध में मौलिक सामग्री के लिए तीन मूर्ति पुस्तकालय से सामग्री मिली जिससे इसका आधार बना ।

इस लघु शोध प्रबन्ध में कुल चार अध्याय हैं । पहले अध्याय में गणेश शंकर विद्यार्थी का जीवन परिचय है । इसी अध्याय में उनकी बाल्यकाल से लेकर कर्मक्षेत्र से गुजरती हुई आत्मोत्सर्ग तक की जीवन-यात्रा का वर्णन है । राष्ट्र-प्रेम एवं राष्ट्र के प्रति उनकी कर्तव्य परायणता को इस अध्याय से भली-भाँति जाना जा सकता है ।

दूसरे अध्याय में भारत के स्वतन्त्रता आंदोलन के दौरान 1910 से 1930 तक की सांप्रदायिकता के दौर का कुछ चित्रण है । इसी दौर में गणेश शंकर ने अपने साप्ताहिक "प्रताप" की शुरूआत की । इस दौर में ही उनकी पत्रकारिता ने देश में धूम मचाई । इस अध्याय में उन ऐतिहासिक कारणों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला गया है जिनके कारण हिन्दू-मुसलमानों की एकता टूटती रही । हमारे तत्कालीन दलों एवं संगठनों की राष्ट्रीय एकता को कमजोर करने में क्या भूमिका रही, उसका विवेचन भी इसमें किया गया है । अंग्रेजों की "फूट डालो और राज करो" की नीति का इसी अध्याय में विश्लेषण है ।

तीसरा अध्याय गणेश शंकर और साम्प्रदायिकता से संबंधित है । इस अध्याय में गणेश शंकर की साम्प्रदायिकता संबंधी अवधारणा का विस्तार से विवेचन किया गया है । तीन मूर्ति

पुस्तकालय में साप्ताहिक "प्रताप" की फाइलें हैं । "प्रताप" में लिखे गए लेखों से उनकी विचारधारा का पता चलता है । देश में साम्प्रदायिकता फैलाने में दोनों समुदायों की भूमिका का मुख्य रूप से वर्णन है । साम्प्रदायिकता फैलाने वाले तत्वों, साम्प्रदायिकता के पीछे अदृश्य शक्तियों का इसमें खुला चित्रण किया गया है । विद्यार्थी जी के द्वारा समय-समय पर किए गए साम्प्रदायिक सद्भाव के प्रयासों को भी इस अध्याय में शामिल किया गया है ।

चतुर्थ एवं अंतिम अध्याय में गणेश शंकर के मौलिक चिंतन एवं उनकी साम्प्रदायिकता संबंधी अवधारणा का निष्कर्ष है । वर्तमान समय में उनकी विचारधारा की सार्थकता एवं प्रासंगिकता का महत्त्व भी दर्शाया गया है । अध्याय की समाप्ति पर परिशिष्ट में गणेश शंकर विद्यार्थी का 30·10·1927 के अंक का "आशा या दुराशा" शीर्षक से लेख दिया गया है । यह लेख अभी तक सार्वजनिक प्रकाश में नहीं आया है । इस लेख में विद्यार्थी जी की साम्प्रदायिक सद्भाव एवं राष्ट्र-निर्माण की कल्पना एक दर्शन के रूप में झलकती है । इस लेख में गणेश शंकर विद्यार्थी ने सभी धर्म के लोगों से अपने-अपने धर्म में भी समयानुरूप परिवर्तन करने का आग्रह किया है ।

शोध कार्य सम्पन्न कराने में मैं अपने शोध-निर्देशक श्रद्धेय डॉ॰ वीर भारत तलवार का सदैव ऋणी रहूँगा, जिन्होंने कठोर अनुशासन

प्रिय होने के बावजूद मुझे पूरी तरह से हल्की-हल्की प्रताड़नाओं के साथ लोकतांत्रिक ढंग से काम करने का मौका दिया ।

मैं इस कार्य में योगदान देने वाले एकमात्र सहयोगी राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय की सहयोग-भावना का हार्दिक स्वागत करता हूँ जिन्होंने टंकण कार्य सम्पन्न कराने तक मेरा साथ दिया । अन्य मित्रों ने आधुनिक युग के अनुरूप सहयोग के आश्वासन अधूरे ही रखे । अच्छा ही रहा, इससे गणेश शंकर की भांति भविष्य में स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा सदैव बनी रहेगी ।

19 जुलाई, 1995 — जगदीश चंद्र

अध्याय - एक

जीवन परिचय

अध्याय - एक

जीवन-परिचय

अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी का जन्म 26 अक्टूबर सन् 1890 को इलाहाबाद में अपने नाना के घर हुआ था। उनकी माता गोमती देवी उन दिनों अपने पिता मुंशी सूरज प्रसाद के घर पर रह रही थीं। गणेश शंकर के पिता मुंशी जयनारायण श्रीवास्तव तत्कालीन ग्वालियर राज्य के एक एंग्लो माध्यमिक विद्यालय में सहायक अध्यापक के पद पर कार्यरत थे। उनका स्थानान्तरण राज्य के किसी भी माध्यमिक विद्यालय में संभव था, इस कारण अपने परिवार को अधिकतर उन्हें इलाहाबाद तथा कानपुर में रखना पड़ा। गणेश शंकर के माता-पिता बड़े ही धार्मिक प्रकृत्ति के थे और उनकी ईश्वर में पूर्ण आस्था थी। माता-पिता के धार्मिक विचारों का प्रभाव बालक गणेश शंकर पर भी पड़ा, जिसने बाद में राष्ट्रवादी-मानववादी रूप धारण किया।

प्रारम्भ में गणेशशंकर अपनी माता के साथ अपने नाना मुंशी सूरजप्रसाद के पास सहारनपुर चले गए। उन दिनों सहारनपुर में वे

जिला जेल में जेलर थे । सन् 1894 में जब गणेशशंकर मुंगावली में अपने पिता के पास आए तो उन्होंने उनकी उर्दू पढ़ने की व्यवस्था कर दी । सन् 1905 में गणेशशंकर ने युक्त प्रान्त की इंग्लिश मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली । इसमें उन्होंने हिन्दी को द्वितीय भाषा के रूप में लिया था । फारसी एवं इतिहास उनको पिताजी स्वयं पढ़ा देते थे एवं अंग्रेजी तथा गणित की शिक्षा के लिए इनकी पृथक् व्यवस्था कर दी गई थी । इस प्रकार से गणेश शंकर व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में तैयारी करने लगे । सन् 1907 में उन्होंने कानपुर स्थित, क्राईट चर्च कॉलेज परीक्षा केन्द्र से एन्ट्रेन्स परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की । इस सफलता से प्रोत्साहित होकर गणेश शंकर इलाहाबाद आ गए और वहां पर जुलाई 1907 में कायस्थ पाठशाला इंटरमीडिएट कॉलेज की ग्यारहवीं कक्षा में भर्ती हो गए । परन्तु वहां पर केवल सात-आठ माह ही अध्ययन कर पाए थे कि आर्थिक कठिनाइयों तथा गृहस्थी के अनेक झंझटों के कारण उन्हें कॉलेज की शिक्षा अधूरी छोड़कर कानपुर आना पड़ा । कार्यक्षेत्र में उन्होंने कानपुर में 6 फरवरी 1908 को 30 रूपये माह की नौकरी कर ली । करेंसी आफिस में वे अपना काम बड़ी सचाई और मेहनत से करते थे । स्वाभिमान को ठेस पहुँचने के कारण 26 नवम्बर 1909 को उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया । इसके बाद एक दिसम्बर 1909 को कानपुर के

ही पृथ्वीनाथ हाईस्कूल में 20 रुपये प्रतिमाह पर अध्यापक हो गए । यहाँ पर भी स्वाभिमान पर ठेस पहुँचने पर 5 सितम्बर 1910 को उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया ।

विद्यार्थी जी की शादी 4 जून 1909 को हरवंश पुर (इलाहाबाद) के मुंशी विश्वेश्वरदयाल की पौत्री से हुई। विद्यार्थी जी की धर्मपत्नी चन्द्रप्रकाश उनके सार्वजनिक जीवन में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करती थी । वह स्वयं परिवार की देखभाल करती एवं घरेलू कार्यों में विद्यार्थी जी की उपस्थिति को आवश्यक न समझती थी । परिवार की घरेलू निश्चिन्तता से ही विद्यार्थी जी को आगे बढ़ने में मदद मिली ।

पत्रकारिता के क्षेत्र में

कानपुर आकर विद्यार्थी जी ने पहले करेंसी ऑफिस में और बाद में पृथ्वीनाथ हाईस्कूल में अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया । यहाँ पर ही उनका सम्पर्क प्रख्यात पत्रकार स्व. पंडित सुन्दरलाल से हो गया था । वे उन दिनों इलाहाबाद से "कर्मयोगी" नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया करते थे । उनके संपर्क से विद्यार्थी जी का झुकाव लेखन की ओर हो गया । वे 'कर्मयोगी' में लेख लिखने लगे इसके बाद उनके लेख

'सरस्वती' में भी छपने शुरू हो गए । सौभाग्य से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी उन दिनों कानपुर में रहकर ही "सरस्वती" का संपदान किया करते थे । उन्हें उन दिनों एक सहायक की आवश्यकता थी । द्विवेदी जी ने सन् 1910 में विद्यार्थी जी को 25 रुपये मासिक पर अपना सहायक नियुक्त कर लिया । विद्यार्थी जी रोजाना दो मील शहर से चलकर जूही जाया करते थे । आचार्य जी को विद्यार्थी जी की लगन का परिचय उनकी परिश्रमशीलता से ही मिल गया था ।

"सरस्वती" में कार्य करते हुए विद्यार्थी जी की लेखन प्रतिभा का परिचय धीरे-धीरे हिन्दी जगत् को मिलने लगा और उनकी काफी ख्याति फैलने लगी । परिणामस्वरूप वे इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले राजनीतिक साप्ताहिक-पत्र "अभ्युदय" के संपादक होकर वहाँ चले गए । 'सरस्वती' से आपको "अभ्युदय" अपने अधिक अनुकूल लगा, क्योंकि "सरस्वती साहित्यिक पत्रिका थी और मासिक थी । इसके विपरीत "अभ्युदय" राजनीतिक पत्र था और साप्ताहिक रूप से प्रकाशित होता था । राजनीतिक रुझान होने के कारण विद्यार्थी जी ने "अभ्युदय" में जमकर कार्य किया । अत्यधिक परिश्रम करने के कारण कुछ समय बाद वे बीमार पड़ गए और स्वास्थ्य लाभ

के लिए कानपुर लौट आए । बीमारी से ठीक हो जाने पर इनकी इच्छा फिर इलाहाबाद लौटने की नहीं हुई और कानुपर से ही स्वतन्त्र रूप से अपना एक पत्र निकालने का निर्णय उन्होंने मन ही मन कर लिया । "सरस्वती" और "अभ्युदय" में कुछ दिन कार्य करने के उपरान्त उन्हें इस कला का कुछ अनुभव हो गया था । फलस्वरूप अपने मित्र पं॰ शिवनारायण मिश्र के सहयोग से उन्होंने 9 नवम्बर सन् 1913 को कानपुर से ही विधिवत् "साप्ताहिक प्रताप" प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया । "प्रताप" के जन्म पर सबसे पहला आशीर्वाद द्विवेदी जी द्वारा ही दिया गया था । द्विवेदी जी ने अपने आशीर्वाद स्वरूप जो दो पंक्तियां गणेश जी को लिखकर भेजी थीं, वे ही आगे चलकर "प्रताप" की "मुखवाणी" बनीं ।

वे पंक्तियां इस प्रकार थीं :

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है ।
वह नर नहीं, पशु निरा है, और मृतक समान है ।।[2]

पास में अधिक जमा पूंजी भी न थी और न ऐसे साधन उनके पास थे कि इतना बड़ा साप्ताहिक पत्र निकाल सकते, किन्तु उनकी लगन तथा निष्ठा ने उन्हें सफलता की ओर अग्रसर

कर दिया और धीरे-धीरे "प्रताप" ने समस्त उत्तर भारत के प्रमुख पत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया । राय-बरेली के किसानों के संघर्ष, कानपुर की मिल-मज़दूरों के समर्थन, देशी राज्यों की जनता की मुक्ति के लिए लगातार आह्वान और चंपारन सत्याग्रह की क्रान्तिकारी घटनाओं के खुले समर्थन के कारण "प्रताप" की लोकप्रियता दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ गई । "प्रताप" का कार्यक्षेत्र धीरे-धीरे इतना विस्तृत हो गया कि सन् 1920 में उसे दैनिक भी करना पड़ा । इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए उन्हें अच्छे सहयोगी भी मिल गए थे । सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा "नवीन" श्री कृष्णदत्त पालीवाल, श्रीराम शर्मा, देवव्रत शास्त्री, सुरेश चंद्र भट्टाचार्य और युगल किशोर सिंह शास्त्री जैसे ख्यातिलब्ध पत्रकार उनके सहयोगी थे । पं॰ माखनलाल चतुर्वेदी के सहयोग से विद्यार्थी जी ने जहाँ "प्रभा" जैसी राजनीति-प्रधान पत्रिका प्रकाशित की थी वहां नवीन जी ने साप्ताहिक "प्रताप" को सर्वथा नया रूप ही दे दिया था ।

विद्यार्थी जी ने पत्रकारिता को देश-सेवा का सर्वोत्तम साधन माना था और इसीलिए उन्होंने 'प्रताप' के माध्यम से

देश की जो सेवा की, वह इतिहास के पृष्ठों में सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित की जायेगी । इस कार्य में उनका एक पैर सदा कारावास में रहा और उसके सिर पर सदैव आर्डिनेंसों का डंडा घूमता रहा । लेकिन उन्होंने अपनी लेखनी का सदा पूर्ण सदुपयोग किया । इसके लिए वे अनेक बार जेल भी गए और अनेक कष्ट भी उठाए । लेकिन अपना स्वाभिमान कभी न बेचा । गणेश शंकर विद्यार्थी एक ईमानदार पत्रकार थे । और वे ईमानदारी के साथ ही इस क्षेत्र के माध्यम से लोगों को जागरूक करना चाहते थे । संपादकीय कर्त्तव्य से इस अंग का प्रतिपालन गणेश जी ने अपना तन-मन-धन सब कुछ न्यौछावर करके किया । लोक सेवा का यह कर्त्तव्य संपादक का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है, और गणेश जी ने बड़ी से बड़ी कीमत देकर भी इसका आजन्म पालन किया । इस दिशा में वे लासानी थे । अपनी इसी कर्त्तव्यपरायणता के कारण उन्हें न जाने कितनी बार जेल जाना पड़ा, जमानतें देनी तथा जमानतें जब्ती करवानी पड़ीं, न जाने कितने जमींदारों, ओहदेदारों, राजों और महाराजों की नाराजगी उठानी पड़ी और न जाने क्या-क्या कष्ट सहने पड़े । इस प्रकार के समाचार पाकर लोग अपना उल्लू सीधा

करना चाहते थे, मगर गणेश जी के उदात्त विचारों में इस प्रकार की गंदगी कभी नहीं आई । वह बड़े से बड़े प्रलोभनों से विचलित नहीं हुए । पत्रकार के लिए अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना तथा और भी अधिक सामयिक विषयों की जानकारी हासिल करना विशेष गुण समझा जाता है । गणेश शंकर जी की पत्र-कारिता हमारे लेखकों, पत्रकारों और संपादकों के लिए बहुत ही मननीय है । यद्यपि संसार के अधिकांश समाचार-पत्र पैसे कमाने और झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने में उतने ही लगे हुए हैं, जितने कि संसार के बहुत से चरित्र शून्य व्यक्ति अधिकांश बड़े समाचार-पत्रों के मालिक होते हैं । इसी कारण संचालन के माध्यम से वे हर तरह के हथकण्डों से काम लेना नित्य का आवश्यक कार्य समझते हैं । इस काम में वे इस बात का विचार करना आवश्यक नहीं समझते कि सत्य क्या है ? सत्य उनके लिए ग्रहण करने की वस्तु नहीं है, वे तो अपने मतलब की बात चाहते हैं । संसार भर में यह हो रहा है । इने-गिने पत्रों को छोड़कर सभी पत्र ऐसा कर रहे हैं । जिन लोगों ने पत्रकारिता को अपना पेशा बना रखा है, उनमें से ऐसे लोग कम हैं, जो अपने चित्त को इस बात के ऊपर विचार करने का

कष्ट देते हैं कि हमें सच्चाई की भी लाज रखनी चाहिए । केवल अपनी मक्खन रोटी के लिए दिन भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं है । इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचार-पत्रों और पत्रकारों के लिए यही मार्ग बनता जा रहा है । हिन्दी पत्रों के सामने भी यही लकीर खिंचती जा रही है । यहाँ भी बहुत से समाचार-पत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिए नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके लिए प्रयोग की वस्तु बन गई है । एक समय था जब इस देश में साधारण आदमी सर्वसाधारण के लिए एक ऊँची भावना लेकर पत्र निकालता था और उस पत्र को जीवन-क्षेत्र में स्थान मिल जाया करता था । आज वैसी भावना नहीं रही । आपके पास अच्छे विचार हों और पैसा न हो, और पैसे वालों का बल न हो, तो आपके विचार आगे न पैल सकेंगे, आपका पत्र न चल सकेगा । इस देश में भी समाचार-पत्रों का आधार धन होता है । धन से ही वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर वे चलते हैं और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत से पत्रकार धन की ही कामना करते हैं । अभी यहाँ पूरा अंधकार नहीं हुआ है, किन्तु लक्षण वैसे ही हैं । कुछ दिन पश्चात् यहाँ के समाचार-पत्र भी मशीन

के सदृश हो जाएंगे और उनमें काम करने वाले पत्रकार केवल मशीन के पुर्जे । व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अन्तर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध उठ जाने का और न्याय के लिए आफतों के बुलाने की चाह न रहेगी, रह जाएगा केवल खींची हुई लकीर पर चलना ।

विद्यार्थी जी बड़े से बड़े होने की अपेक्षा छोटे, और छोटे से छोटे होना बेहतर मानते थे बशर्ते वह अच्छे सिद्धान्तों वाला हो । पत्रकारों के संबंध में दो रायें बनती है । एक तो यह कि उसे सत्य या असत्य, न्याय या अन्याय के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए । एक पत्र में वह नरम बात बिना हिचक के कह सकता है, दूसरे में वह गरम कह सकता है, जैसा वातावरण देखे, वैसे करे । अपने लिखने की शक्ति से उठकर पैसा कमाए, धर्म और अधर्म के झगड़े में न अपना समय खर्च करें और न अपना दिमाग ही ।

इस बारे में दूसरी राय यह है कि - पत्रकार की अपने समाज के प्रति बड़ी जिम्मेवारी है, वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है, वह जो कुछ प्रमाण और परिणाम का विचार रखकर लिखे और अपनी

गति-मति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे । पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं अपितु लोकसेवा ही उसका ध्येय है और अपने काम से जो कमाता है, वह ध्येय के लिए एक साधन मात्र है । दुनिया के पत्रकारों में दो तरह के आदमी हैं । पहले दूसरी राह से संबंध रखने वाले पत्रकार अधिक थे, अब इस उन्नति के युग में पूर्वोक्त पहली राह में विश्वास करने वाले अधिक हैं । यह दुख की बात है कि उन्नति पत्रकारों के आचरणों में नहीं हुई । हिन्दी के समाचार पत्र भी कथित उन्नति के राजमार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं ।

यहां यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि प्रेमचंद भी इसी आदर्श को लेकर चले । उनका साहित्य केवल रेल की यात्रा करने का संबल नहीं है, वह पाठक का मनोरंजन करने के साथ उसे गहराई में जाकर सोचने और अपने को बदलने को विवश करता है । पहले चिन्तकों का काम इतना भर रहा कि वे जादू-व्यापार की कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा लाकर जैसे-तैसे एक व्याख्या प्रस्तुत करें, पर क्रांतिकारी चिंतक समाज को आमूल-चूल बदलने के लिए एक मुकदमा प्रस्तुत करना चाहता है । प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह जिस जगत में आया है, वह उसे उससे कुछ बेहतर बनाकर छोड़ जाए, चाहे वह ऐसा पेड़ लगाकर

ही करें,"कर्मभूमि" नामक उपन्यास में प्रेमचंद क्रांति की व्याख्या राजनैतिक परिवर्तन के आगे बढ़कर इस रूप में करते हैं ।

"ऐसी क्रांति जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों, झूठे सिद्धान्तों परिपाटियों का अन्त कर दे, जो एक नए युग की प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे ।"[3] अफसोस है कि विद्यार्थी और प्रेमचंद के आदर्शों पर आज के लेखक नहीं चल रहे हैं ।

राजनीतिकऔर सामाजिक जीवन

1913 में'प्रताप'का प्रकाशन शुरू होने के बाद ही विद्यार्थी जी का सामाजिक और राजनीतिक जीवन प्रारम्भ हो गया था । विद्यार्थी जी ने राजनीति और सामाजिक जीवन में बराबर रुचि ली । उनकी पत्रकारिता मूलत: सामाजिक चेतना की प्रतीक थी । विद्यार्थी जी को पत्रकारिता, राजनीति और सामाजिक क्षेत्रों में भाग लेने की कीमत जेलों में चुकानी पड़ी ।

देश की सबसे पहली सार्वजनिक हलचल जिसने उनपर प्रभाव डाला, वह श्रीमती बेसन्ट का होमरूल आंदोलन था । "प्रताप" के 24 सितम्बर, 1917 के संपादकीय के अनुसार कानपुर में "आल इंडिया होमरूल लीग" की उसी दिन स्थापना हो गई जिस दिन मद्रास में

उनका जन्म हुआ था अर्थात् पहली जनवरी 1916 को । आरंभ में इसके 11 सदस्य बने । प्रत्येक मंगलवार को स्थानीय बैठकें होने लगीं । सदस्यों की संस्था दिन प्रति दिन बढ़ती गई और उसकी लोकप्रियता भी । पहली जुलाई 1917 को श्रीमती बेसन्ट को बन्दी बनाने के विरोध में कानपुर में सार्वजनिक सभा की गई । इसके बाद नगर में स्वराज दिवस मनाया गया । धीरे-धीरे होमरूल लीग की लोकप्रियता बढ़ने लगी और इसकी सदस्य संख्या भी 300 से ऊपर हो गई । विद्यार्थी जी "प्रताप" के संपादकीय कार्य के साथ लीग की शाखा में रुचि लेते थे, यही उनके प्रारंभिक राजनैतिक जीवन का प्रथम चरण था ।

अखिल भारतीय कांग्रेस का वार्षिक खुला अधिवेशन 1916 में लखनऊ में हुआ । इस अधिवेशन की गणेश शंकर विद्यार्थी पर अमिट छाप पड़ी थी । खादी का प्रयोग होने लगा और राष्ट्रीय शिक्षा पर बल देकर "प्रताप" के माध्यम से स्वदेशी का प्रचार प्रान्त भर में फैलाने लगे । लखनऊ अधिवेशन के पश्चात् जब गांधी जी का कानपुर आना हुआ तो उनके लिए "प्रताप" कार्यालय में ही ठहरने का उपयुक्त स्थान निश्चित हुआ । और महात्मा गांधी नि:संकोच वहां ठहरे । "प्रताप" के लिए यह गौरव की बात थी । अत: उसके संपादक की मान-प्रतिष्ठा सहसा बढ़ गई । इसके बाद गणेश शंकर विद्यार्थी कानपुर की

राजनीति का केन्द्र बिन्दु बन गए । गाँधी जी के प्रभाव में आकर गिरगिट विरोधी लेख लिखने लगे तथा गोरे निलहे जमींदारों द्वारा किसानों पर हो रहे अत्याचार का विरोध करने लगे । 1918 से 1920 की अवधि में विद्यार्थी जी स्थानीय एवं प्रांतीय राजनीति में देदीप्यमान हो गए । व्यक्तिगत रूप से की गई सेवा तथा प्रताप कार्यालय के माध्यम से प्रान्त भर में अनवरत रूप से किए जाने वाले सराहनीय कार्यों से लोकप्रिय एवं प्रभावी बन गए । कृषक आंदोलन के प्रमुख प्रणेता के रूप में रायबरेली-मानहानि मुकदमों के शिकार हुए और इसी संदर्भ में उनको 1921 से 1922 तक की पहली जेल यात्रा करनी पड़ी । 22 मई 1922 को लखनऊ जिला जेल से मुक्त होकर उन्होंने "जेल-जीवन की झलक" बारह अंकों में "प्रताप" में प्रकाशित की । जेल में मिलने वालों से वह कहते थे कि वे उनकी चिन्ता न करें । पन्द्रह माह बन्दी जीवन के बाद भी वह अडिग और स्पष्टवादी थे । दिसम्बर 1925 में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसमें कांग्रेस की प्रथम महिला अध्यक्ष बनीं।यह थी प्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती सरोजनी नायडू । कानपूर में आयोजित कांग्रेस के खुले अधिवेशन की देश में काफी चर्चा हुई क्योंकि कांग्रेस का यह चालीसवां अधिवेशन अत्यन्त चुनौतियों से भरा हुआ था, फिर भी इसके आयोजन में अप्रत्याशित सफलता मिली । इस अधिवेशन

से विद्यार्थी जी राष्ट्रीय नेता बनने के हकदार हो गए इसी अधिवेशन से उनकी महात्मा गांधी और जवाहरलाल से भी निकटता और बढ़ गई ।

सन् 1926 में कानपुर में कौंसिल का चुनाव हुआ । विद्यार्थी जी व्यक्तिगत रूप से इसमें भाग लेना नहीं चाहते थे परन्तु स्थानीय कांग्रेस समिति ने उनको चुनाव लड़ने के लिए राजी कर लिया । उन्होंने स्वराज्य दल के सदस्य की हैसियत से नामांकन पत्र भरा और नवगठित राष्ट्रीय दल के सदस्य चुन्नीलाल वैश्य को भारी बहुमत से पराजित किया । इस विजय से विद्यार्थी जी को विधान सभा के पटल पर अपनी प्रतिभा दर्शाने का स्वर्णिम अवसर मिल गया । "विधायक होते ही गणेश शंकर विद्यार्थी कौंसिल के कार्य में तत्पर हो गए थे । 1927 से 1929 तक की अवधि में विधायक के रूप में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा । स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारतवर्ष में जो महान विधायक हुए उनमें विद्यार्थी जी का नाम लिया जा सकता है । विधान-सभा की बहस में, भाषणों में तथा प्रश्नोत्तरकाल में उनकी उपलब्धि प्रशंसनीय रही ।"[4] कांग्रेस ने सन् 1929 में कौंसिल छोड़ने का आदेश दिया । विद्यार्थी जी यू॰पी॰ कौंसिल के सबसे पहले सदस्य थे, जिन्होंने त्याग-पत्र दिया ।

सन् 1929 में फर्रुखाबाद में युक्त प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन का अधिवेशन विद्यार्थी जी के ही सभापतित्व में हुआ था । सम्मेलन के कुछ दिनों बाद प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के पदाधिकारियों का जो चुनाव हुआ, उसमें आगामी साल के लिए विद्यार्थी जी ही प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुने गए । उनकी अध्यक्षता के समय में ही 1930 का संसार प्रसिद्ध सत्याग्रह शुरू हुआ तथा वह युक्त प्रान्त के प्रथम डिक्टेटर नियुक्त हुए । विद्यार्थी जी ने 1922 से लेकर 1931 तक बहुत ही अधिक परिमाण में राजनैतिक कार्य किया । उनके राजनैतिक कार्यों ने उन्हें बहुत ऊँचा उठा दिया था ।

विद्यार्थी जी के सामाजिक विचार बड़े क्रान्तिकारी थे । समाज में आजकल धर्म के नाम पर जो पोपलीला मची हुई है, वह सदा उसके विरुद्ध आवाज़ उठाते और उसके अनुसार आचरण भी करते रहे । अपने समाज की महिलाओं की पितावस्था से वह बहुत दुखी होते और उनकी शिक्षा-दीक्षा, पर्दा-प्रथा तोड़ने, उन्हें पुरुषों के समान ही अधिकार देने के वह पक्के हिमायती थे । छुआछूत और खानपान में जो दकियानूसीपन घर किए हुए है, उसे वह समाज की उन्नति में बहुत बाधक समझते थे । वह किसी भी साफ-सुथरे आदमी के हाथ का खाना खाने या पानी पीने में कभी नहीं हिचकते थे । उन दिनों यह साहस की

बात मानी जाती थी । एक विशेष बात उनमें और थी । हिन्दू और मुसलमानों में वे कोई अन्तर नहीं समझते थे । जबकि हिन्दू उन दिनों मुसलमानों के साथ खान-पान नहीं करते थे । विद्यार्थी जी जब भी अक्सर मिलता मुसलमान भाइयों के साथ खाना खाते थे । मोटे रूप से हिन्दू समाज में स्त्रियों की तथा लड़कियों की भी काफी उपेक्षा की जाती है । विद्यार्थी जी ने सदा इसके विरूद्ध आवाज़ उठाई और स्त्रियों की दशा सुधारने के उद्योग किए ।

सन् 1929 में कानपुर से 25 मील दूर उन्होंने नरवल ग्राम में सेवाश्रम की स्थापना की । जो सरदार पटेल के बारदोली आश्रम की तरह था । विद्यार्थी जी के सतत प्रयत्नों से नरवल एक सामाजिक सांस्कृतिक तथा राजनैतिक कार्यक्रमों का केन्द्र बन गया । नरवल का वातावरण उन्हें अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता था । सेवाश्रम के माध्यम से खादी एवं चर्खे के प्रयोग को प्रोत्साहन देने का उत्तम अवसर था । प्रत्येक सप्ताहांत में ठहरने के कारण नरवल प्रान्त का प्रमुख राजनीतिक केन्द्र बन गया था । सेवाश्रम के नियन्त्रण में आस-पास के गाँवों में अनेक वाचनालयों तथा चर्खा केन्द्रों की स्थापना हुई थी । ग्रामीण क्षेत्र में सेवाश्रम का स्थान सर्वोच्च बन गया था ।

आत्मोत्सर्ग

23 मार्च सन् 1931 को भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरू को फाँसी देने के कारण सारे भारत का वातावरण क्रांतिकारी हो गया था। लेकिन कानपुर के अन्दर यह वातावरण हिन्दू-मुस्लिम दंगे में बदल दिया गया। फाँसी के शोक में कानपुर में हड़ताल कराई गई। लोगों से कहा गया कि वे इक्का-बग्घी पर सवार होकर न चलें और जिन लोगों ने दुकान बंद न की थी, उन्हें दुकान बंद करने के लिए प्रेरित किया गया - दंगों का यही ऊपरी कारण था। इस दंगे में 500 से भी ऊपर आदमी मरे और हजारों घायल हुए। लगभग 75 लाख की संपत्ति स्वाहा हो गई। चार दिन तक कानपुर में महाकाली अपना प्रचण्ड रूप धारण करके अपनी विकरालता दिखला गई। 24 मार्च, सन् 1931 को मंगलवार के दिन दंगा शुरू हुआ। विद्यार्थी जी दंगा स्थलों की ओर लोगों को शांत करने निकल पड़े। हालांकि उन्हीं दिनों प्रांतीय कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने कराची कांग्रेस अधिवेशन में शामिल होना था और जेल से छूटे भी उन्हें तीन सप्ताह हुए थे तथा 'प्रताप' का मात्र एक अंक 22 मार्च को अपने संपादक के तौर पर निकाल पाए थे। लेकिन इन सब बातों से उस महामानव को क्या लेना-देना था। जनता मर-कट रही हो और वे शान से घर बैठे हों

यह उनसे कभी नहीं हुआ । लोगों को बचाते हुए उन्हें चोटें भी आईं पुलिस का रवैया भी उपेक्षित एवं पक्षपात-पूर्ण रहा । फिर भी वे इससे हतोत्साहित नहीं हुए । पर 24 तारीख की रात में और 25 तारीख की सुबह में दंगे का रूप और भी भीषण हो गया । चारों तरफ से लोगों के मरने, घायल होने, मकानों को जलाए और दुकानों के लूटे जाने की खबरें आने लगीं । विद्यार्थी जी से यह खबरें सुनी नहीं जा रही थीं, वे तत्काल थोड़ा-सा दूध पीकर लोगों को बचाने के लिए चल पड़े । विद्यार्थी जी को विश्वास था कि उन्होंने जब किसी की कोई बुराई ही नहीं की है तो उसका भी कोई क्या बिगाड़ेगा ? पत्नी तथा मित्रों ने भी इस भयंकर दंगे में जाने से रोका था, लेकिन यह सब भला उनसे कहां होने वाला था । पटकापुर, बंगाली मुहाल, इटावा बाजार में उन्होंने हजारों हिन्दू-मुसलमानों की रक्षा की ।

मुसलमान स्वयं सेवक और हिन्दू स्वयं सेवक शंकरराव टालीकार और ज्वालादत्त के साथ वे बिसातखाने, मछलिया बाजार, नई चौक की तरफ गए । रास्ते में उन्होंने मिश्री बाजार और मछली बाजार के कुछ हिन्दुओं को बचाया । इसके बाद वे चौबे गोला पहुँचे । वहां पर विपत्ति में फंसे हुए बहुत से हिन्दुओं को निकलवाकर सुरक्षित स्थानों में भेजा और औरों के विषय में पूछ ही रहे थे कि मुसलमानों ने उनपर और उनके साथ के स्वयं सेवकों पर हमला करना चाहा । इस पर उनके

साथ दो हिन्दू और एक मुसलमान स्वयं सेवक थे । मुसलमान स्वयं सेवक थे । मुसलमान स्वयं सेवक के यह कहने पर कि - "पंडित जी को क्यों मारते हो, इन्होंने तो सैकड़ों मुसलमानों को बचाया है, भीड़ ने उन्हें छोड़ दिया । इसके थोड़ी देर बाद मुसलमानों के एक-दूसरे गिरोह का आदमी आगे बढ़ा । मुसलमान स्वयं सेवक ने उसे भी समझाया कि "पंडित जी ने सैकड़ों मुसलमान भाइयों को बचाया है, इन पर वार न करो" पर उसने इस पर विश्वास न किया और भीड़ को विद्यार्थी जी को मारने का इशारा कर दिया । इसी समय एक सज्जन विद्यार्थी जी को बचाने की गरज से, उन्हें गली की ओर खींचने लगे । इस पर विद्यार्थी जी ने उनसे कहा - "क्यों घसीटते हो मुझे ? मैं भाग कर जान नहीं बचाऊँगा । एक दिन मरना तो है ही । अगर मेरे मरने से ही इन लोगों की प्यास बुझती हो, तो अच्छा है कि मैं यहीं अपना कर्त्तव्य-पालन करते हुए आत्म-समर्पण कर दूँ ।"[5] उनकी इस बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया और एक साथ ही उन पर कई अस्त्रों से वार हुए । मुसलमान स्वयंसेवक मुसलमान समझकर छोड़ दिए गऐ, किन्तु हिन्दू स्वयं सेवकों पर गहरी मार पड़ी, ज्वालादत्त जी तो वहीं स्वर्ग सिधार गए । दूसरे की जान बच गई । विद्यार्थी जी का शव दो दिन बाद पहचाना जा सका । जैसे जैसे यह समाचार फैला, देश से ही नहीं अपितु विदेशों से भी सैकड़ों शोक संदेश आए

इनमें मारीशिस, फिजी, दक्षिणी अफ्रीका तथा सिंगापुर आदि देश शामिल थे ।

प्राय: देश की सभी भाषाओं के समाचार-पत्रों ने उनके बलिदान पर अग्रलेख लिखे । सभी सम्प्रदायों के लोगों ने, सभी राजनैतिक दलों ने उनके निधन पर शोक प्रकट किया । लेकिन किसान-मजदूरों का शोक वर्णनातीत रहेगा । ऐसे नर-रत्नों का संसार में सदा अभाव रहता है जो अपने सत्कार्यों द्वारा लाखों और करोड़ों नर-नारियों को अपना बना लेते हैं तथा जो भी सुने उन्हें अपना आदमी समझकर दो आँसू बहाए ।

Jawaharlal Nehru University Library

महात्मा गांधी ने उनकी मृत्यु के बाद 19 अप्रैल 1931 के "यंग इंडिया" में लिखा था -

"गणेश जी को ऐसी मृत्यु मिली, जिस पर हम सबको स्पर्धा हो । उनका खून अन्त में दोनों धर्मों को आपस में जोड़ने के के लिए सीमेंट का काम करेगा ।"[6] ......

विद्यार्थी जी की इस अविस्मरणीय कुर्बानी के बारे में पंडित नेहरू ने कहा था -

"गणेश जी शान से जिए और शान से मरे और उन्होंने

DISS
4(P,152)"x,M92;g(Q)
152N5
TH - 5696

जो सबक मरकर सिखाया वह हम बरसों जिन्दा रहकर क्या सिखाएंगे ।"[7] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इन शब्दों के साथ शोकोद्गार प्रकट किए -

"आततायियों ने गणेश जी के साथ जो सलूक किया है, उससे मुझे बहुत सदमा पहुँचा है । ऐसे परोपकारी, ऐसे सज्जन, ऐसे देश भक्त के ऊपर यह निर्दयता और निष्ठुरता ।।"

.....

Diss
4(P.152)"x, M92:g(Q)
152N5

संदर्भ

1. निर्भीक राष्ट्रनायक गणेश शंकर विद्यार्थी
सं. डॉ. विद्याप्रकाश, पृ.-136.

2. गणेश शंकर विद्यार्थी चुनी हुई रचनाएं
सं. नरेश चंद्र चतुर्वेदी, (भूमिका से)

3. कर्मभूमि उपन्यास
ले. प्रेमचंद

4. गणेश शंकर विद्यार्थी
ले. डॉ. मोतीलाल भार्गव, पृ.-115.

5. गणेश शंकर विद्यार्थी
ले. देवव्रत शास्त्री, पृ.-121.

6. वही, पृ.-121.

7. अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी
प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, पृ.-31.

....

अध्याय - दो

साम्प्रदायिकता का दौर (1910-30)

साम्प्रदायिकता की जिस आग ने महामानव गणेश शंकर विद्यार्थी को अपनी लपेटों में समेटा था उस साम्प्रदायिकता का भारतीय समाज में मतलब है हिन्दू-मुसलमान जनता के बीच व्याप्त घृणा, विद्वेष और प्रतिहिंसा की भावना ।

भारतीय उप-महाद्वीप में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच ऐसी कलुष भावना सन् 1890 से पूर्व नहीं थीं ।[1] सन् 1857 के मुक्ति संग्राम में तो दोनों सम्प्रदाय के लोगों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर अंग्रेजों के छक्के छुड़ाये थे और इतिहास गवाह है कि अंग्रेजी हुकूमत की चूलें हिला देने वाले उस संग्राम में मुसलमान हिन्दुओं से जरा भी पीछे नहीं रहे थे । हिन्दू भी मुसलमानों पर कोई शक-शुबहा नहीं करते थे और 1/4 के मुकाबले 3/4 की बहुसंख्या में होकर भी देशभर के हिन्दुओं ने उस संग्राम के लिए दिल्ली के बूढ़े व कमजोर शायर शासक बहादुरशाह जफ़र को बिल्कुल तहेदिल से अपना नायक चुना था । उस मुक्ति संग्राम को येन-केन-प्रकारेण दबा देने के बाद भी अंग्रेज यह महसूस करने लगे थे कि भारतीय जनता में फूट डाले बिना वे अब हुकूमत पर अधिक दिनों तक काबिज़ नहीं रह सकते । और इसके लिए विभिन्न जातियों, धर्मों और विश्वासों वाले भारतीय समाज में उन्हें साम्प्रदायिकता से अच्छा नुस्खा भला क्या मिल सकता था । और कहने की आवश्यकता नहीं कि "भारतीयों के राष्ट्रीय आंदोलन को दुर्बल करने

के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने "फूट डालो और राज करो" की नीति अपनाकर मध्यमवर्ग और हिन्दू मध्यम वर्ग के बीच द्वंद्वों को उजागर कर मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ खड़ा करने का रास्ता अपनाया ।"[2] फिर शुरू हो गया दंगों का दौर, गौवध विरोधी आंदोलन, हिन्दी-उर्दू विरोध और प्रतिनिधि संस्थाओं के निर्वाचन की प्रणाली का विवाद ।

अंग्रेजों ने निर्वाचन वास्ते मताधिकार के लिए जब शिक्षा या संपत्ति को आधार बनाया तो मुसलमानों को काफी नागवार लगा । ऐसा होने पर मुसलमान हिन्दुओं की तुलना में उपेक्षित रह जाते । "यही वजह थी कि पृथक् निर्वाचन की मांग को मुसलमानों के बीच प्रेरणा मिली । इन स्थितियों से सरकार के लिए फूट के बीज बोना और दोनों सम्प्रदायों के बीच निहित विरोधों को सामने लाकर समूचा राजनीतिक प्रणाली का ढांचा तैयार करना आसान हो गया ।"[3] प्रतिक्रिया स्वरूप दिसम्बर 1906 में ही मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और इसमें अंग्रेजों ने काफी रूचि ली । इस बारे में भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड मिण्टों ने जो रिपोर्ट इस बारे में लंदन भेजी उसमें लिखा था कि "मुस्लिम लीग की स्थापना के जरिये भारत की आबादी के एक बड़े हिस्से को स्वाधीनता संग्राम से अलग रखने का इंतजाम कर दिया गया है ।" तत्पश्चात सन 1925 में हिन्दू-महासभा की स्थापना हुई और इसे भी अंग्रेजों का भरपूर प्रोत्साहन मिला । इस प्रकार धर्म के आधार पर दो संगठनों के बन जाने से भारतीय समाज में फूट पड़ गई । इसी फूट ने आगे जाकर

25 मार्च सन् 1931 को कानपुर में गणेश शंकर विद्यार्थी को धार्मिक आधार पर छिड़े दंगों में लील लिया । यह फूट बाद में भारत और पाकिस्तान के बंटवारे के रूप में सामने आई ।

साम्प्रदायिकता पर विचार करते समय अक्सर बहुमत की साम्प्रदायिकता और अल्पमत की साम्प्रदायिकता जैसी बातें कही जाती हैं । औसत लोग इनमें से किसी को भी कोई रियायत देना नहीं चाहते । यद्यपि रियायत के खिलाफ सभी राष्ट्रवादी लोग हो सकते हैं । लेकिन इस कटु सत्य को कैसे झुठलाया जा सकता है कि बहुमत की साम्प्रदायिकता आक्रामक होती है और अल्पमत की साम्प्रदायिकता रक्षात्मक । ऐसे में बहुमत से यह अपेक्षा बनती है कि वह सद्भाव का आचरण करें तथा अल्पसंख्यकों का विश्वास अर्जित करने का प्रयास करे ।

भारत का स्वतन्त्रता संग्राम आगे जाकर राष्ट्रवादी रूप न ले ले इसी संदर्भ में अंग्रेजों ने मॉरले-मिंटो सुधार की घोषणा की । डा. विपिन चन्द्र के अनुसार — "मारले-मिंटो सुधारों का मूल मकसद राष्ट्रवादी खेमें में फूट डालना और मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भड़का कर भारतीयों के बीच दिन-ब-दिन बढ़ती एकता को रोकना था । भारतीयों में एकता रोकने के लिए अंग्रेजों ने एक घृणित चाल चली । निर्वाचन क्षेत्रों का बंटवारा जातीय व धार्मिक आधार पर किया गया । मुसलमानों के लिए सुरक्षित सीटें बनाई

गई, जहां मुसलमान केवल मुसलमान उम्मीदवारों को ही वोट दे सकते थे । इस कुटिल नीति के चलते यह जताने की कोशिश की गई कि हिन्दुओं और मुसलमानों के राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक हित परस्पर मेल नहीं खाते ।[4] इस तरह अंग्रेजों द्वारा मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाना एक ऐसा विष वृक्ष साबित हुआ जिसके चलते बाद में हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिकता की फसल उग आई । हालांकि इससे पूर्व सन् 1906 में आगा खां और ढाका के नवाब सलीमुल्लाह मोहसिनुल के नेतृत्व में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना धर्म के आधार पर कर चुके थे । इस तरह के कदम उठाने में शिक्षित मुसलमानों एक वर्ग, मुसलमान जमीदारों और उसके उच्च वर्ग का हाथ था । जब सारा देश बंगाल विभाजन का विरोध कर रहा था उस समय लीग ने बंगाल विभाजन का समर्थन किया । यही नहीं लीग ने आगे जाकर कांग्रेस की हर राष्ट्रीय जनतांत्रिक मांग का विरोध शुरू कर दिया । लीग का शुरू से ही दावा था कि मुसलमानों के हित शेष राष्ट्र के हितों से भिन्न और विरूद्ध थे । हालांकि उस समय का मुसलमानों का एक शिक्षित वर्ग सच्चाई को पहचानता था । वह वर्ग लीग के दावे को झुठलाता था कि लीग सारे मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है । परंपरागत मुसलमान विद्वानों ने राष्ट्रवादी भावना जगाई और साम्प्रदायिक चिंतन के तरीकों को तिलांजली दी गई । इनमें मौलाना अबुल कलाम आजाद मुख्य थे । यद्यपि मुस्लिम लीग ने प्रारम्भ में मुसलमानों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन से अलग रखने के काफी प्रयास किए लेकिन इसी दौरान एक अन्तराष्ट्रीय घटना घट

गई जिससे मुस्लिम लीग का प्रभाव एकदम खत्म सा हो गया था । वह घटना है तुर्की के शासक की । तुर्की का शासक सारे मुसलमानों का धर्मगुरू माना जाता था । उस समय तुर्की सबसे अधिक शक्तिशाली मुस्लिम राष्ट्र था । मुसलमानों के अधिकतर तीर्थस्थल उसके साम्राज्य में थे । इस शताब्दी के दूसरे दशक के प्रारम्भ में तुर्की को पहले इटली से तथा बाद में बालकन शक्तियों से युद्ध करना पड़ा । मुगल सम्राट के सत्ताहीन होने और तुर्की साम्राज्य पर रूस के बढ़ते प्रभाव के बाद ब्रिटेन ने तुर्की की सुरक्षा का फैसला किया और इस रूप में मुसलमानों के पैरवीकार के रूप में अपने को उभारना चाहा । अतः उसने इस्लामी बंधुत्व के आंदोलन को प्रोत्साहन दिया । इसका अर्थ यह था कि उसने तुर्की के सुलतान को सारे मुसलमानों का खलीफा होने की स्वीकृति दी । तुर्की पर खतरा पैदा हुआ तो भारतीय मुसलमानों ने उस पर तीखी प्रतिक्रिया की । इससे मुसलमानों में साम्राज्य विरोधी और अंग्रेज विरोधी भावना तेजी से उभरी । परिणामस्वरूप भारत के राष्ट्रवादी युवा मुसलमान राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल हो गए । सन 1912 से 1924 तक के समय में मुस्लिम लीग को प्रभावहीन रहना पड़ा । युवा मुसलमानों का राष्ट्रवादी व्यवहार हालांकि अल्पकाल के लिए तो ठीक रहा लेकिन आगे जाकर देश को भारी हानि उठानी पड़ी । क्योंकि युवा मुसलमान इस कारण मुख्य धारा में शामिल हुए क्योंकि अधिकांश तीर्थस्थल खिलाफत और तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत पड़ते थे । इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन मिथकों, सांस्कृतिक परम्पराओं और नायकों के नाम पर आग्रह किए,

उनका संबंध भारत के प्राचीन या मध्यकालीन इतिहास से न होकर पश्चिमी एशिया के इतिहास से था । इस तरह उनके राजनैतिक आग्रह का आधार भी धार्मिक भावनाएं थीं । आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से मुस्लिम जनता में वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष दृष्टि का विकास न था । यही अभाव आगे जाकर राष्ट्र की एकता में खतरा बना । हालांकि सन 1906 में मुस्लिम लीग के नाम से धर्म के आधार पर राजनैतिक संगठन खड़ा हो चुका था । लेकिन इस दौरान हिन्दू साम्प्रदायिकता न उभरी । सन 1924 तक किसी भी प्रभावशाली हिन्दू संगठन का जन्म न हुआ था यह ठीक है कि उस दौरान हिन्दू साम्प्रदायिकता धीरे-धीरे फैलनी शुरू हो गई थी । मुस्लिम राष्ट्र-वादिता को उस समय भारी धक्का लगा जब 1906 में बनी मुस्लिम लीग के विरोधी मौहम्मद अली स्वयं 1913 में इसमें शामिल हो गए । मुस्लिम लीग में शामिल होने के बाद वे पूरे मुस्लिम "समुदाय" के प्रवक्ता के रूप में मुस्लिम नेता की भूमिका निभाने लगे थे । लेकिन 1916 में जब मुस्लिम लीग और कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ तो तिलक और जिन्ना ने मिलकर एक समझौता किया, जो लखनऊ समझौता कहा जाता है । इस समझौते के अनुसार अल्पसंख्यकों के लिए पृथक मतदाता मंडलों तथा सीटों को स्वीकार कर लिया गया । इस समझौते से एक तरह से कांग्रेस ने सांप्रदायिक राजनीति को स्वीकार कर लिया । जिसके आगे जाकर खतरनाक नतीजे निकले ।

इसी दौरान गणेश शंकर विद्यार्थी और अब्दुल कलाम आजाद अपने-अपने अखबारों के माध्यम से देश में राष्ट्रवादिता की अलख जगा रहे थे ।

दोनों ही अखबार आम जनता में लोकप्रिय भी होने लगे थे । गणेश शंकर विद्यार्थी ने अपने अखबार "प्रताप" 1913 में शुरू किया तो अब्दुलकलाम आजाद ने अपना अखबार 'अल-हिलाल' 1912 में । दोनों ही अखबार शुद्ध राष्ट्रवादिता के पोषक थे । 1912 से 1924 के बीच मुस्लिम लीग में युवा राष्ट्रवादियों के प्रभाव के कारण यह कांग्रेस की नीतियों के काफी नजदीक पहुंच चुकी थी । धीरे-धीरे "हिन्दू-मुस्लिम की जय" की हवा पूरे देश में बहने लगी । परिणामस्वरूप रौलट कानूनों का विरोध तथा खिलाफत व असहयोग आंदोलनों में दोनों समुदाय साथ-साथ थे । इसी दौर में स्वामी श्रद्धानंद को दिल्ली की जामा मस्जिद के मंच से भाषण के लिए आमंत्रित किया गया और डा. सैफुद्दीन किचलू को अमृतसर के स्वर्ण मंदिर की चाबियां सौंप दी गई । दुर्भाग्य से उस दौरान राष्ट्रवादी नेतृत्व मुसलमानों की धार्मिक, राजनैतिक चेतना को धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चेतना में नहीं बदल सका । सन् 1922 में असहयोग आंदोलन के वापस लेने के बाद सांप्रदायिकता ने सिर उठाया और देश में जगह-जगह सांप्रदायिक दंगे होने लगे । हिन्दू और मुसलमान इसी दौर में अपने-अपने समुदाय के डर को मनोविज्ञान फैलाने लगे । स्वामी श्रद्धानंद ने जहां शुद्धि आंदोलन शुरू किया वहीं मुसलमानों में तंजीम और तबलीग आंदोलन चला । ये दोनों ही आंदोलन साम्प्रदायिक थे । जो भी राष्ट्रवादी लोग इनका विरोध करते थे उन्हीं को समाज का दुश्मन बताया जाने लगा । धीरे-धीरे हिन्दू और मुस्लिम नेता अर्ध सांप्रदायिक होने लगे जैसे लाला लाजपत राय, मदनमोहन मालवीय और एन. सी. केलकर

जहां हिन्दू महासभा में शामिल हुए वही मौहम्मद अली तथा शौकत अली में भी नाटकीय परिवर्तन आया । 1923-24 में उत्तर भारत में साम्प्रदायिकता फैल गई और दंगे होने शुरू हो गए । साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार 1922 से 1927 तक 112 बड़े सांप्रदायिक दंगे हुए । "1923 और 1927 के बीच संयुक्त प्रांत सबसे ज्यादा दंगा प्रभावित क्षेत्र रहा इस दौरान इस क्षेत्र में 91 साम्प्रदायिक दंगे हुए । कारण होता था कि - मस्जिदों के आगे बाजे न बजाए जाए और हिन्दुओं की मांग होती थी कि गोहत्या बंद की जाए । इस समय महात्मा गांधी ने बड़े मार्मिक ढंग से एक बात कही कि — गाय की जान बचाने के लिए मनुष्यों की जान लेना बर्बर अपराध है ।"[5] वही जिन्ना से 1925 में मुस्लिम नौजवान ने यह कहा था कि "मैं मुसलमान पहले हूं" तो उन्होंने उसे समझाया था, "नहीं बेटे ! तुम भारतीय पहले हो और मुसलमान बाद में ।"[6] एक तरफ तो मौहम्मद अली जिन्ना जैसे व्यक्ति में भी राष्ट्रवादिता अभी बाकी थी दूसरी तरफ लाला लाजपत राय तथा मदनमोहन मालवीय ने इलाहाबाद में 1925-26 में मस्जिद के आगे बाजे न बजाने की बात पर मुसलमानों की पहल को ठुकरा दिया । मुसलमान केवल चाहते थे कि सांयकाल की नमाज के वक्त पांच या दस मिनट तक मस्जिदों के सामने गाना-बजाना न हो । इस तरह की बातों से राष्ट्रवादी लोगों के हौंसले परस्त होने लगे । 1925 में के. बी. हेडगेवार के संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना तथा मुस्लिम लीग के पुनर्जीवित होने से रही-सही कमी भी पूरी हो गई । सभी नेता अपनी-अपनी ढफली और अपना-अपना राग अलापने लगे । लालालाजपतराय

ने मालवीय जी के साथ स्वतंत्र कांग्रेस पार्टी बनाकर हिन्दू प्रतिक्रियावादिता को बढावा दिया वही मोतीलाल नेहरू पर हिन्दू-विरोधी एवं गोमांस भक्षण के आरोप लगने लगे । खिलाफत आंदोलन के नेता भी जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को इकट्ठा करके आंदोलन लड़ा था अब धीरे-धीरे सांप्रदायिक राजनीति की ताकतों का मुकाबला करने की पूरी कोशिश की लेकिन उन्हें सफलता न मिल सकी । सन् 1928 में साइमन कमीशन के आगमन के कारण दोनों ओर समझौते की संभावनाएं बढ़ी लेकिन यह सब मुस्लिम समुदाय को कुछ रियायतें दिए बगैर संभव नहीं था । दूसरी ओर साइमन कमीशन का मुकाबला करने के लिए एकता भी जरूरी थी । इसी बीच सन 1927 में मुस्लिम नेताओं ने 'दिल्ली-प्रस्ताव' के नाम पर चार सूत्री मांग-पत्र पेश किया । जिसमें §1§ सिंध को अलग राज्य बनाना §2§ अन्य प्रान्तों की भांति उत्तर-पश्चिमी प्रांत को संवैधानिक दर्जा देना §3§ केंद्रीय विधायिका में मुसलमानों को 33-$\frac{1}{3}$ % प्रतिनिधित्व तथा §4§ पंजाब और बंगाल में प्रतिनिधित्व का अनुपात आबादी के अनुसार व अन्य प्रांतों में सीटों का आरक्षण बरकरार । दूसरी ओर सभी दलों की समिति ने नेहरू रिपोर्ट के नाम से कलकत्ता के सम्मेलन में सिफारिश की कि — हिन्दुस्तान का ढांचा भाषावार हो, चुनाव का आधार संयुक्त मतदाता मंडल हो, प्रांतीय तथा केंद्रीय विधायिकाओं में धार्मिक अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व उनकी आबादी के अनुसार आरक्षित हों। रिपोर्ट में सिंध को बम्बई से अलग करने तथा उत्तर पश्चिम सीमांत प्रान्त में संवैधानिक सुधारों की भी सिफारिश की गई थी । उपरोक्त दोनों रिपोर्टों

पर नेताओं में गहरे मतभेद थे । दूसरी ओर हिन्दू महासभा और सिक्ख लीग ने सिंध, उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त, बंगाल तथा पंजाब संबंधी रिपोर्ट के हिस्सों पर सख्त आपत्ति प्रकट की । जिन्ना के प्रस्तावों से केंद्र कमजोर हो सकता था और कांग्रेसी नेता केंद्र को कमजोर बनाना नहीं चाहते थे । नेताओं के आपसी मतभेदों से अब समझौते की संभावना भी विफल हो गई । सांप्रदायिक नेताओं से बातचीत कर कांग्रेस ने न केवल उनकी राजनीति पर मोहर लगा दी अपितु अपने को भी कमजोर कर लिया । साथ में राष्ट्रवादी तथा धर्मनिरपेक्ष नेताओं जैसे मौलाना आजाद, अंसारी और आसफ अली की राजनैतिक स्थिति को कमजोर कर दिया । दूसरी ओर अब कांग्रेस के लिए अर्थ साम्प्रदायिक नेताओं जिनमें मोहम्मद अली जिन्ना, लाला लाजपत राय तथा मदनमोहन मालवीय थे उनका विरोध करना भी अब कठिन हो गया । यह ठीक है कि उस दौरान उनका आपस में कोई समझौता नहीं हुआ, यदि ऐसा हो जाता तो एक गलत परम्परा की शुरूआत होती । जैसे-जैसे रियायतें दी जाती वैसे-वैसे सांप्रदायिकतावादियों की भूख भी बढ़ती जाती । अतः 1928-29 तक सभी को अपनी-अपनी राजनीति बचाने के लिए समझौते से दूरी बनाए रखी । साइमन कमीशन का विरोध सभी ने अपने-अपने स्तर पर ही करके संतुष्ट होना पड़ा । मुस्लिम लीग तथा हिन्दू महासभा जैसे संगठनों ने भी किसी ने विरोध किया किसी ने समर्थन किया । साइमन कमीशन के मामले पर सभी साम्प्रदायिक नेताओं की कमजोरी स्पष्ट रूप से सामने आई । इसी कमजोरी के फलस्वरूप सभी को आत्ममंथन का मौका मिला

जिसके परिणामस्वरूप सन् 1930 के दशक में आगे जाकर गोलमेज कॉंफ्रेंस के दौरान उनके लिए मैदान खुला था जहाँ पर वे एक अंतराल के बाद राष्ट्र के भविष्य की इकट्ठे होकर चिन्ता कर सकते थे जो कि सन् 1920 के दशक में छिन्न-भिन्न हो गई थी । यद्यपि गणेश शंकर विद्यार्थी ने इस साम्प्रदायिकता के दौर में सामाजिक सद्भाव अपनाने की समय-समय पर अपील की थी, लेकिन वे अपने प्रयत्नों में सफल न हो सके । यदि वे अपने प्रयासों में सफल हो जाते तो शायद उन्हें 5 सितम्बर, 1927 के "प्रताप" में "छाया के पीछे" नामक शीर्षक से यह न लिखना पड़ता - "पिछले 17 महीनों में हिन्दू और मुसलमानों के झगड़ों के कारण देशभर में 250 से लेकर 300 आदमी मरे और लगभग 2500 घायल हुए, न मालूम कितनी माताएँ बिना पुत्र के, कितने बच्चे बिना पिता के और कितनी स्त्रियां बिना पति के हो गई । फिर इस पर मुकदमेबाजी, लाखों रूपये की बर्बादी, हजारों आदमियों का इधर-उधर छिपे फिरना और बे-रोजगार रहना और बहुतों का जेल जाना और उनके घर वालों का कष्ट में पड़ना - यह सब अलग ।"[7]

.....

संदर्भ

1. भारत का मुक्ति संग्राम - ले॰ अयोध्या सिंह, पृ॰-214.
2. वही, पृ॰-218.
3. आज का भारत, ले॰ रजनीपामदत्त, पृ॰-463.
4. भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, ले॰ विपिन चंद्र, पृ॰-115-16.
5. यंग इंडिया, सं॰ महात्मा गांधी, अंक-29, मई 1924.
6. भारत का मुक्ति संग्राम, ले॰ विपिन चंद, पृ॰-401.
7. छाया के पीछे (सा॰ प्रताप) अंक-5, सितम्बर 1927 सं॰ गणेश शंकर विद्यार्थी.

.....

अध्याय - तीन

गणेश शंकर विद्यार्थी और सांप्रदायिकता

अध्याय - तीन

गणेश शंकर विद्यार्थी और साम्प्रदायिकता

गणेश शंकर विद्यार्थी मूलत: पत्रकार थे । अपने समय में राष्ट्र और उसकी सूरत-सीरत से इस कदर जुड़े थे कि राष्ट्र की एकता एवं समरसता के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बाजी ही लगा दी थी । राष्ट्र को मजबूत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र के निवासी मेलजोल से रहें । इस मेलजोल में जो बातें बाधा डालने वाली होती थीं वे उन बातों पर अपने बे-बाक विचार व्यक्त करते थे । अपने साप्ताहिक "प्रताप" के संपादकीय विचारों के माध्यम से देश की जनता को व्यावहारिक रूप से समाज में विष घोलने वाली कुरीतियों के विरूद्ध खड़ा होने के लिए ललकारते थे । उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं था । जैसा प्रताप में वे लिखते थे, वैसा वे स्वयं भी करते थे । उनका दृष्टिकोण मूलत: राष्ट्रवादी था । यही कारण है कि हिन्दू होने के बावजूद न कभी उनमें हिन्दुत्व की "बू" आई, न कभी हिन्दुओं की बुराइयों के पक्ष में रहे । हालांकि उन दिनों साम्प्रदायिकता सिर उठा रही थी, इसके प्रति वे बेहद चिंतित रहते

थे । मुस्लिम समाज में भी फैली कुरीतियों का विरोध वे उसी तरह करते थे जिस तरह से हिन्दू कुरीतियों का । गणेश जी ने हमेशा हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन किया और साम्प्रदायिकता का विरोध किया । साम्प्रदायिकता को वे मनुष्यता का कलंक और सामाजिक सद्भाव तथा प्रगति के मार्ग का रोड़ा मानते थे । वह इस बात को गहराई से समझते थे कि जब तक भारतीय जनता धार्मिक दृष्टि से हिन्दू, मुसलमान के समुदायों में बंटी रहेगी, तब तक गुलामी नहीं मिटने वाली । विद्यार्थी जी की साम्प्रदायिकता संबंधी धारणाओं को जानने के, उनके मौलिक चिंतन को समझने के उस दौर में समय-समय पर अपने विचार "प्रताप" में व्यक्त करते रहे थे, उन्हीं को आधार मानकर हम उनके बारे में अधिक जान सकते हैं ।

20वीं सदी के दूसरे दशक में भाषा के नाम पर साम्प्रदायिकता फैलनी प्रारम्भ हो गई थी, हिन्दू हिन्दी के पक्षधर थे और मुसलमान उर्दू के पक्ष में थे । दोनों भाषाओं का विकास हो - ऐसा बहुत कम लोग चाह रहे थे । गणेश शंकर विद्यार्थी उन बहुत कम लोगों में से थे जो दोनों भाषाओं का विकास चाहते थे । अन्य व्यक्तियों की भाँति वे क्षुद्र मानसिकता में जीवित रहना नहीं चाहते थे । सन् 1916 में बदायूँ के पास बिसौली में मदन मोहन सेठ ने

अदालत में कुछ अर्जियां हिन्दी में स्वीकृत कर ली तथा अपनी अदालत में गवाहों के इज़हार हिन्दी में लिख लिए थे । इसी पर कुछ मुसलमान सज्जन भड़क उठे तथा उर्दू के भविष्य पर चिन्ता प्रकट करने लगे । इस पर गणेश शंकर विद्यार्थी ने दोनों समुदायों को सम्बोधित करते हुए लिखा - "हम हिन्दी और उर्दू में बहुत अन्तर भी नहीं मानते और हमारी धारणा है कि दोनों के फलने और फूलने के लिए एक दूसरे का साहित्य बड़ा ही आवश्यक है । हमारे मुसलमान दोस्तों का यह डर हानिकारक इसलिए है कि वे तिल को ताड़ समझकर अपने हृदय को दुखी और काला करते हैं । उर्दू की जिसका साहित्य नि:संदेह हिन्दी के नये साहित्य से अधिक और अच्छा है - नींव कमज़ोर मान बैठते हैं और द्वेष के कारण हिन्दी साहित्य से लाभ उठाने से मुंह मोड़ते हैं । हम इस प्रश्न को एक और दृष्टि से देखते हैं । देश की राजनैतिक और सामाजिक दशा जिस प्रकार की है उसके कारण इस प्रांत के हिन्दुओं में हिन्दी का वहां तक आगे बढ़ना जहाँ तक वह बढ़ सकती है, अनिवार्य सा है । हमारे मुसलमान मित्र इस बाढ़ को रोकने में कदापि सफल नहीं हो सकते । चेष्टा में केवल द्वेष ही, उनके हाथ रहेगा । हाँ, एक सरकारी नौकर को इन गोरख-धन्धों में पड़ने की आवश्यकता नहीं, परन्तु सरकार ने अदालत में हिन्दी के लिए भी मार्ग खोल दिया है, प्रत्येक सरकारी नौकर

और वकील का हिन्दी और उर्दू पढ़ा होना चाहिए । पब्लिक को आजादी है कि वह चाहे हिन्दी में दरखास्त दे और चाहे उर्दू में ।"[1]

उस समय भाषाएं एक तरह से धर्म के साथ जुड़ गई थी, संकीर्ण मानसिकता के हिन्दू उर्दू का विकास नहीं चाहते थे और संकीर्ण मानसिकता के मुसलमान हिन्दी का । लेकिन विद्यार्थी जी दोनों भाषाओं के विकास पर मुग्ध होते हैं । सन् 1917 में हैदराबाद राज्य में जब उर्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हो रही थी तो उन्होंने अपनी प्रसन्नता इन शब्दों में 'प्रताप' में संपादकीय लिख कर जाहिर की - "हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि शीघ्र ही हैदराबाद राज्य में एक ऐसा विश्वविद्यालय स्थापित होने वाला है जिसमें शारीरिक और मानसिक उन्नति का पूरा विचार रखते हुए उर्दू द्वारा शिक्षा देने का पूरा प्रबंध रहेगा, अंग्रेजी भाषा भी पढ़ाई जाएगी । हैदराबाद के श्रीमान निजाम ने इस विश्वविद्यालय की स्थापना की आज्ञा दे दी है । और इसका नाम भी "उसमानिया विश्वविद्यालय" रख दिया है । हैदराबाद राज्य में उर्दू साहित्य की उन्नति में सदा बड़ी उदारता से काम लिया है । उसी के आश्रय में इस विश्वविद्यालय का स्थापित होना उसकी सफलता का पूरा प्रमाण है । इस विश्वविद्यालय से उर्दू की तो तरक्की होगी ही परन्तु अन्य देशी भाषाओं की उन्नति में भी बहुत

सहायता मिलेगी । कितना अच्छा होता यदि ऐसे ही अच्छे आश्रय में एक हिन्दी विश्वविद्यालय भी स्थापित होता । हिन्दू राजे-महाराजे चाहें तो यह काम कठिन नहीं है ।"[2]

गणेश शंकर विद्यार्थी ने अपने जीवन में सभी को समान समझा, वे हिन्दू-मुस्लिम को समान समझने के साथ-साथ ऐसे व्यक्तियों को भी बराबर समझते थे, जिनको समाज में सदियों से अछूत समझा जाता है । यह है हिन्दू समाज का ही एक महत्वपूर्ण वर्ग जिसे अछूत या दलित कहा जाता है । इस बात में कोई दो राय नहीं कि इस देश में न केवल धर्म के नाम पर इन्सानों की मारकाट होती रही है अपितु एक ही धर्म में जातीय आधार पर भी लोग एक दूसरे के खून के प्यासे रहे हैं । मुसलमानों में जहाँ शिया-सुन्नी के झगड़े होते हैं वहीं हिन्दुओं में सवर्ण-दलित संघर्ष, तनाव, छुआछूत, भेदभाव होता रहा है । विद्यार्थीजी देशवासियों की इस घिनौनी हरकत के खिलाफ थे । छुआछूत को वे बुरा मानते थे । सन् 1920 में महाराष्ट्र और गुजरात में अछूतों की छूत का प्रश्न जोर पकड़ रहा था । हिन्दू लोग मुसलमानों को पास बैठाने में बुरा नहीं मानते थे, और न ही उन्हें इसाई तथा यहूदी से मिलने में ऐतराज होता था । लेकिन अपने ही अंग अछूतों को वे किसी प्रकार भी नहीं देख सकते थे । विद्यार्थी जी हिन्दुओं को कोसते हुए लिखते हैं : "आप करोड़ों आदमियों को इतना हेय समझते

हैं, तो फिर, यदि दुनिया आपको हेय समझती है तो क्या बुरा करती है ? यदि आप इतने अन्धे हैं कि अपना भला-बुरा नहीं समझ सकते, यह नहीं समझ सकते, यह नहीं अनुभव करते कि उपेक्षा द्वारा आप अपने करोड़ों देश-बन्धुओं को दूसरों के हाथों में डाल रहे हैं और तनिक सी भी परवाह आपके लिए करोड़ों साथी पैदा कर देगी, तो आप अपनी श्रेष्ठता लिए बैठे रहिए और अपनी मृत्यु जो अधिक दूर न होगी - दिन गिनिए ।"[3]

जब कांग्रेस ने छुआछात हटाने का कार्यक्रम चलाया तो अनेक कट्टरवादी हिन्दू-लोग इसमें शरीक नहीं हुए । न ही कुछ तथाकथित नेता पूरे मन से इस कार्यक्रम को चला रहे थे । इस पर गणेश शंकर ने हिन्दुओं की धर्मान्धता का विरोध कर उन्हें अपनी धारणा पर पुनर्विचार की अपील की :

"हिन्दू लोग अछूत - अछूत और नीच कहे जाने वाले लोगों को ऊपर लाने का नाटक खेल रहे हैं । यह अधिकांश में इसलिए नहीं है कि उन्हें अब विश्वास हो गया है कि मनुष्य को मनुष्य समझना चाहिए । पशु नहीं, उनके दिल में यह बात भी काम नहीं कर रही है कि दुनिया हमें जलील समझ रही है । हम दुनिया के अछूत हैं । इस कलंक से बचने के लिए आवश्यक यह भी है कि हम जिन्हें

जलील समझते हैं उन्हें वैसा न समझे । पं॰ मदनमोहन मालवीय और पं॰ दीनदयाल उपाध्याय और काशी के पंडितों की व्यवस्थाएं और आज्ञाएं भी उनके मन को नहीं हिला रही हैं, और न ही किसी प्राचीन संहिताकार की भाषा ही उन पर कुछ असर कर रही है । केवल भय और स्वार्थ से हिन्दुओं की ऊँची जातियाँ नीचे धंस रही हैं । लम्बा जूता सिर पर है । हर ओर से प्रहार हो रहा है । कहीं भी ठिकाना नहीं मिल रहा है । केवल "नीच" और "अछूत" नाम से पुकारे जाने वाले ही लोग समय पर काम आते रहे हैं । इस ढाल की कीमत मालूम हो गई है । इसीलिए उसे बचाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है ।"[4] गणेश शंकर विद्यार्थी मूर्ति-पूजा एवं छुआछूत के विरोधी थे । किसी भी सम्प्रदाय में कुरीतियां हों, वे उनका विरोध करना आवश्यक समझते थे । इस बारे में वे किसी का पक्ष नहीं बरतते थे ।

सन् 1924 में हिन्दू संगठनों ने अछूतों के एक मंदिर में प्रवेश का विरोध किया तो हिन्दू संगठनों की इस करतूत को उन्होंने ढोंग कहा - "प्रयाग के इस अलोपी माता के मंदिर में सब जाते हैं, हाल ही में दलित-पुत्रों को भी इस मंदिर में साथ ले जाने की बात पूजनीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, श्रीयुत् मूलचंद मालवीय और अन्य

कुछ लोगों को सूझी । कांग्रेस ने अछूतोद्धार का बीड़ा उठाया है । हिन्दू संगठन की बढ़ती का जमाना है, इसलिए भंगी, चमार, कोरी और पारसियों की ओर भी दृष्टि का जाना स्वाभाविक है । लेकिन उनकी पूजा के बाद मंदिर को धोया गया, शुद्ध किया गया ।"[5]

गणेश शंकर जी दुःखी मानव की पीड़ा जानकर दुःखी हो जाते थे । मानव से अर्थ हिन्दू-मुस्लिम, सिक्ख या ईसाई ही नहीं हैं अपितु वे सभी लोग जो पृथ्वी पर रहते हैं । लेकिन यहां एक उदाहरण दिया जा रहा है जो उन्होंने छुआछूत के संबंध में अछूतों के प्रति हिन्दुओं के व्यवहार के संबंध में था ।

"समाज में बेतरह घुन लगा है । एक समुदाय का हित दूसरे के लिए अहित हो जाता है । नीची जाति के लोग आगे बढ़ते हैं तो ऊँची जाति वाले कहते हैं कि हम मरे । किसान उठते हैं तो जमींदार कहते हैं हम गए । देहली के पास रोहद गाँव में कोई कुआँ नहीं । वे अब चमड़े की मशकों का पानी पीना नहीं चाहते । अपने दामों से कुआँ बनवा लेना चाहते हैं, जहाँ जमींदार कुआँ बनाने नहीं देना चाहते । वे समझते हैं कि कुआं बना और ये "नीच" हमारे हाथों से निकले । ये बेचारे अब नाले का पानी पी रहे हैं । कष्ट बहुत है और वे अब कहते हैं कि यदि बहुत कष्ट रहा तो वे हिन्दू समाज

छोड़कर दूसरे समाज से नाता जोड़ेंगे । निःसंदेह यह बड़ी बुरी दशा है । जो समाज अपने आदमियों को पानी तक पीने को तरसाए, ऐसी परिस्थिति में यदि वह दूसरे समाज में जाता है तो हमें दुःख न होगा । हमें दुःख होगा इस पर कि हिन्दू समाज का दिल और दिमाग कितना बेकार हो गया ।"[6]

20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में आर्य समाज ने शुद्धि आंदोलन तथा अछूतोद्धार आंदोलन चलाया । शुद्धि आंदोलन के माध्यम से उन मुसलमानों को वापस हिन्दू धर्म में शामिल करना था, जो हिन्दुओं से मुसलमान बन गए थे । यह आंदोलन सफल होने लगा था कि इसी बीच रोगशैय्या पर पड़े स्वामी श्रद्धानंद की एक धर्मान्ध मुस्लिम युवक ने हत्या कर दी । स्वामी श्रद्धानंद अछूतोद्धार के भी प्रेणता थे । और जानते थे कि अछूत भी हिन्दू धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । स्वामी जी की हत्या के बाद हिन्दुओं ने उनका स्मारक बनाने की योजना बनाई, उस समय गणेश शंकर विद्यार्थी ने स्मारक के स्थान पर उनके विचारों को कार्यव्यवहार में लाने की अपील की । जो कमियां हिन्दुओं में थी, उन बुराईयों से पल्ला झाड़ने को कहा - अमर शहीद स्वामी श्रद्धानंद का स्मारक बनाने के लिए जो योजनाएं इस समय तक सामने आई हैं, उन सबका यही एक उद्देश्य है कि देश-भर के हिन्दू

स्वामी जी का काम अपने हाथ में ले ले । और शुद्धि और संगठन का काम जोरों के साथ हो । उन्होंने हिन्दुओं को भविष्य के प्रति चेतावनी देते हुए उन्हें आगाह किया कि - "हम हिन्दुओं को इस समय यही कहेंगे कि कोई इस समय भले ही इंकार करे किन्तु इस देश का और हिन्दुओं का आगे का इतिहास इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहेगा कि हिन्दुओं ने अपनी धर्मान्धता, अपनी मूर्खता, अपनी कूपमंडूकता से अपना अंग काट-काटकर अलग फेंका और इस प्रकार अपने को कमजोर बना लिया । इतना ही नहीं उनकी इस कमजोरी के पाप से वे अत्याचारी और अत्याचारियों के निर्माता बन गए । उन्होंने अपने घर के कमजोरों पर कठोर नियमों के रूप में वह अत्याचार किया कि उससे करोड़ों मनुष्य पिस गए, करोड़ों नारियाँ कुचल गईं और दूसरी ओर उनकी दुर्बलताओं से लाभ उठाने के लिए भारतवर्ष में निरंकुश आततायियों का दल उत्पन्न हो गया जो कदापि उत्पन्न न होता या बढ़ने न पाता । यदि हिन्दू सबल प्रगतिशील अपने को प्यार करने वाले और संसार को प्रेम का निमन्त्रण देने वाले बने रहते । यह होगी आगे चलकर हिन्दुओं के संबंध में भारतीय इतिहास की व्यवस्था । स्वामी श्रद्धानंद के नाम पर हम हिन्दुओं से यही विनय करेंगे कि वे यदि सचाई के साथ शुद्धि और संगठन का काम अपने हाथ में लेते हैं तो यह समझ कर लें कि - इस काम में हाथ लगाने के बाद,

वे कूपमंडूक चौके के अंदर बंद ऊँच-नीच की कड़ियों से जकड़े हुए दुनिया भर से बचते रहने वाले, दलितों के दलने वाले और विधवाओं को आततायियों का शिकार बनाने वाले नहीं रह सकते । यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो व्यर्थ ही स्वामी श्रद्धानंद का नाम न घसीटे, उस अमर-शहीद का स्मारक देश के इतिहास पर अमिट अक्षरों से बन चुका है, उसके स्मारक बनाने के लिए न सड़े-गले मसाले की जरूरत है, और न उसके बनाने वालों में कायरों और झूठों तथा मूर्खों की ।"[7]

सन् 1927 में मुसलमानों ने आंदोलन चलाया कि 'सत्यार्थ-प्रकाश' को जब्त किया जाए - क्योंकि इसमें बहुत सी बातें इस्लाम विरोधी लिखी गई हैं । इसी वर्ष द्रविड़ लोगों ने मद्रास में प्रस्ताव पास किया कि 'मनुस्मृति' को जब्त किया जाए क्योंकि - इसमें बहुत सी बातें अनार्यों तथा शूद्रों के विरुद्ध हैं । गणेश जी इन दोनों बातों से दुखी थे । एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के प्रति विद्वेष फैला रहे थे, दूसरी ओर एक ही धर्म में आपसी व्यर्थ की कटुता बढ़ रही थी । गणेश जी ने दोनों समुदायों को इस व्यर्थ के झगड़े से दूर रहने को लिखा। व्यर्थ का झगड़ा इसलिए है कि 'सत्यार्थ-प्रकाश' तथा 'मनुस्मृति' के अनुसार तो अब कोई कार्य नहीं हो रहा है । तब इस पर आपसी विवाद में क्यों पड़ते हो ? "मनुस्मृति' और अन्य कितनी ही हिन्दुओं और अन्य धर्मों की धार्मिक पुस्तकों में भी ऐसी बहुत सी व्यवस्थाओं का वर्णन

है, जिनके अनुसार दूसरे वर्ण या धर्म या श्रेणी के लोगों को बहुत हेय समझा गया है और उनके छोटे से छोटे अपराध पर भी उन्हें बड़े से बड़े दण्ड देने की बात कही गई है । किन्तु उन पर जब हम अपना क्रोध उतारने चले तब हमें ठण्डे हृदय से यह तो विचार कर लेना चाहिए कि उनके अनुसार इस युग, इस देश में कितना काम होता है ? क्या इस देश में सत्यार्थ-प्रकाश, मनुस्मृति, कुरान या बाइबल की व्यवस्थाओं के अनुसार शासन होता है और दण्ड दिया जाता है ? जब ऐसा नहीं होता, तब हमारा यह क्रोध व्यर्थ है । कदाचित, व्यर्थ ही नहीं, देश में द्वेष की आग भड़काने वाला भी ।"[8]

सन् 1926 में स्वामी श्रद्धानंद की एक मुसलमान द्वारा हत्या करने पर तथा हत्यारे को तुरंत पकड़ने के बाद दोनों समुदायों में तनाव उत्पन्न हो गया था । विद्यार्थी जी धर्म के नाम पर हत्या के विरुद्ध थे क्योंकि ऐसी बातों का असर राष्ट्रव्यापी हो जाता है तथा उसका खामियाजा भोली-भाली आम जनता को भुगतना पड़ता है । निर्दोषों को इसका परिणाम भुगतना पड़ता है । स्वामी जी की हत्या पर हिन्दुओं को भारी रोष था । इस हत्या ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर प्रश्न-चिन्ह लगा दिया था । विद्यार्थी जी ने हत्या की निन्दा की पर हिन्दुओं को चेताया कि - वे सभी मुसलमानों पर

इसका दोष न मढ़ें । संयम से काम लें, मुसलमानों को हत्यारे के प्रति सहानुभूति भी नहीं होनी चाहिए । विद्यार्थी जी अपने संपादकीय में लिखते जो विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने उस समय धर्म के नाम पर हत्यारे के प्रति रोष का कोप-भाजन सभी एक धर्म वालों को बनना पड़ता है । साथ में हत्यारा जिस समुदाय का होता है उसके प्रति भी सहानुभूति लोग कर बैठते हैं । परिणामत: एक अन्तहीन विवाद की शुरूआत हो जाती है । विद्यार्थी जी ने दोनों समुदायों में सद्भाव बनाने की अपील की । इस लेख को मूल रूप से ही दिया जा रहा है क्योंकि इसमें बहुत सी बातें ऐसी हैं जो विद्यार्थी जी की अनेक धारणाओं पर प्रकाश डालती हैं । तथा कई बातें ऐसी भी हैं जो आज भी प्रासंगिक हैं ।

स्वामी श्रद्धानंद का बलिदान

"एक मुसलमान द्वारा रोगशय्या पर पड़े ऋषि श्रद्धानंद की हत्या का समाचार सुनकर हम कांप गए । इस भीषण घटना पर हमारा हृदय रो पड़ा । मरना तो सभी को है, मरना नई बात नहीं है । स्वामी श्रद्धानंद भी बहुत दिनों न जीवित रहते, 71 वर्ष के तो हो ही चुके थे । इधर उन्होंने बीमारी भी बहुत पाई थी, परन्तु जिस प्रकार वे बलिदान हुए उस पर हृदय अत्यन्त क्षुब्ध है । उसके न मालूम कितने

भयंकर परिणाम होंगे । देश-भर में आग लग जाएगी । अधिकांश हिन्दू हिंसा की भाषा से हिल उठेंगे और उन्हें यह मालूम होगा कि देश के सभी मुसलमान दगाबाजी और दुष्टता की मूर्ति हैं । पता नहीं यह लगी हुई आग कहां तक बढ़े । परमात्मा इस देश को इससे बचाए । जिन सज्जनों की नज़रों से यह पंक्तियां गुजरें उनसे हमारी विनम्र प्रार्थना है कि वे इस आग को आगे न बढ़ने दें । और लोगों को आवेग में बह जाने से रोकें । निःसंदेह एक मुसलमान ने यह एक अत्यन्त निंदित और निर्दयी कार्य किया है और इस काम पर प्रसन्न होने वाले मुसलमानों की तादाद भी कम न होगी, किन्तु समझदार हिन्दुओं को अपने मन को वश में करने की आवश्यकता है और वे इसमें देश के समस्त मुसलमानों को कदापि न लपेटें । सब मुसलमानों को लपेटना न तो न्यायतः ठीक है और न इसका नतीजा ही अच्छा होगा । हिंसायुक्त और अविश्वासपूर्ण वायुमंडल कभी किसी के लिए हितकर नहीं हुआ करता । प्रत्येक देश और जाति में ऐसे हत्यारे हुए हैं जिन्होंने महापुरुषों के प्राण लिए हैं । उस हत्यारे के साथ पूरी जाति या पूरा देश नहीं लपेटा गया । यदि हिन्दुओं की न्याय-बुद्धि विचलित नहीं हुई तो बहुत से मुसलमानों को विवश होकर अपनी धर्मान्धता पर पश्चाताप करना पड़ेगा । क्योंकि कोई भी ऐसा मजहब अब आदर के योग्य नहीं हो सकता, जो ऐसे आततायी का पक्ष ले ।

दीन के नाम पर, यदि हत्यारों को इज्जत दी जाएगी तो मौजूदा दुनिया ऐसे दीन और ऐसे दीनदारों पर लानत भेजने से न रुक सकेगी । राष्ट्रीय विचारों के हिन्दुओं के लिए यह काम और भी कठिन परीक्षा का है । वे भी स्थिर-चित्त रहे । देश और राष्ट्र के जीवन में बहुधा ऐसे कठिन अवसर उपस्थित होते हैं, ऐसे ही अवसरों पर जो लोग स्थिरचित्त रहते हैं वे ही नाव को पार लगा पाते हैं । हमें ऋषि श्रद्धानंद की मृत्यु पर बेहद दुःख है किन्तु उनका बलिदान आशा और यश का संदेश-दायक है । जिस प्रकार वृत्तासुर पर विजय पाने के लिए इन्द्र को वज्र का शरीर बनाने के लिए दधीचि की हड्डियों की, संसार के एक बहुत बड़े भाग को प्रेम और शुचित्ता का मार्ग दिखाने के लिए महात्मा ईसा को शूली पर चढ़ाने की, बुद्धि और ज्ञान का मार्ग दिखाने के लिए तत्वदर्शी सुकरात और स्वामी दयानंद सरस्वती को विष का प्याला पीने की और धर्म की रक्षा के और अज्ञान दूर करने के लिए सिक्ख गुरूओं को शीश देने और अपने वीरों को बलिवेदी पर चढ़ा देने की आवश्यकता थी, उसी प्रकार इस देश में धर्मान्धता और त्यागहीनता का अंत करने के लिए एक महान बलिदान की आवश्यकता थी । स्वामी श्रद्धानंद का जीवन बहुत महान था धर्म देश और हिन्दू जाति के लिए उन्होंने जो कुछ किया आगामी संतति उसके सामने श्रद्धा के साथ सिर झुकाएगी । तथापि उनकी वीरता और उनके साहस

के सामने उस समय देश भर स्तम्भित रह गया था जब उन्होंने देहली के निवासियों पर लक्ष्य करके सरकारी तोप के सामने अपनी छाती अड़ा दी थी । वे हर तरह से महान थे और ऐसे महान थे कि हमें भासित होता है कि देश की इस सबसे बड़ी समस्या के हल करने के लिए अर्थात् धर्मान्धता और मोह की भावनाओं की अंत्येष्टि क्रिया करने के लिए विधि की गतिविधियों ने इस अवसर पर उनसे बढ़कर और कोई बलिदान का पात्र नहीं पाया । अत्यन्त विनय के साथ उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजली चढ़ाते हुए हम उनकी अमर आत्मा और अमरकीर्ति के नाम पर देश भर से प्रार्थना करते हैं कि इस महान बलिदान से इस देश में धर्मान्धता का नाश हो और धर्म और त्याग के सच्चे भाव का उदय हो ।"[9]

देश में अमन-चैन की स्थापना के लिए जो सीख विद्यार्थी जी ने हिन्दुओं को दी जैसा कि गत पृष्ठ पर स्वामी श्रद्धानंद के बलिदान पर उन्होंने विशेषकर हिन्दुओं को लक्षित कर संपादकीय लिखा था । उसी प्रकार की सीख वे मुसलमानों को भी देते थे । उनका लिखने का मूल उद्देश्य यही रहा कि देश के ये दोनों प्रमुख समुदाय आपस में सद्भाव से रहेंगे तो देश की एकता बनी रहेगी । इसका अर्थ होगा कि हम सब मिलकर अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकेंगे । वे हमेशा चिन्तित

रहते थे कि कोई निकट भविष्य में ऐसी घटना न घट जाए जिससे कि दोनों समुदायों में मतभेद या वैमनस्य जन्म ले ले । अंग्रेजी शासन दोनों समुदायों में दरार डालने के लिए समय-समय पर मतभेद पैदा करता रहा था । गौहत्या को शह देना भी उनका एक विशेष हथकंडा था । अंग्रेज जानते थे कि भारतीय धार्मिक रूप से काफी कमजोर एवं संवेदनशील है । अत: गौहत्या को समय-समय पर बढ़ावा देना हिन्दू-मुसलमानों में दरार डालने का एक मुख्य साधन रहा था । विद्यार्थी जी अंग्रेजों की इस चाल को भली-भाँति समझते थे । लेकिन भारतीयों को उनकी यह बात सहज ही गले न उतरती थी । लेकिन एक कर्मयोगी एवं राष्ट्रवादी के नाते जिस तरह वे हिन्दुओं को भावनाओं में बहकर हिंसा का सहारा न लेने की अपील करते थे उसी प्रकार वे मुसलमान भाइयों से भी उन कारणों से ही दूर रहने की अपील करते थे जिन कारणों से हिंसा पैदा होने की संभावना दोनों समुदायों के बीच बनी रहती है ।

हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य वैमनस्य का कारण मुसलमानों द्वारा गाय की बलि देना या गाय की हत्या करना मुख्य रहा है । हिन्दू लोग गाय को एक तरह से पवित्र एवं पूजनीय मानते हैं । इस बारे में हिन्दू चाहे वह आर्यसमाजी हो, सनातनी हो, जैनी हो । गाय सबके लिए पवित्र एवं प्रतिष्ठा के योग्य है । गौरक्षा के सवाल

पर सभी हिन्दू एक है । उस समय जगह-जगह गौहत्या की जाती थी जिसके कारण दोनों सम्प्रदायों में तनाव उत्पन्न हो जाता था । दंगे हो जाते थे उनमें जान-माल की हानि पहुँचती थी । यह स्थिति बकरीद के अवसर पर और विस्फोटक हो जाती थी क्योंकि बकरीद के अवसर पर मुसलमान अधिकतर गाय की कुर्बानी करते हैं और हिन्दुओं के लिए स्वभावत: गाय के लिए इतना प्यार और मान है, जितना उसे संसार की चीजों से बहुत कम होगा । हिन्दुओं ने गौरक्षा के लिए अपनी जाने कौड़ी के मोल दी हैं । उनका यह जोश धार्मिक है और धार्मिक जोशों के रफ़ा करने के लिए दलीलें काफी नहीं हुआ करतीं । लेकिन सच्ची बात यह है (चाहे इसे साधारण हिन्दू समझता हो या नहीं) कि देश की आर्थिक दशा और कृषि की ओर विचार करते हुए हिन्दुओं के इस भाव को उचित और न्यायानुकूल होना मानना पड़ेगा । दक्षिण में मैसूर राज्य में उस समय गौहत्या की जाती थी, कई राज्यों में इस पर प्रतिबंध भी था । गणेश जी ने मैसूर राज्य से इस पर प्रतिबंध लगाने की अपील की । साथ में गाय के महत्व को भी बताया - "हमारा देश कृषि प्रधान देश है और इसके अधिकांश आदमी धर्म की दृष्टि से गौ को बहुत पवित्र मानते हैं इसलिए इस देश में गौएं मारी ही न जानी चाहिए । हिन्दू राज्य में गौहत्या नहीं की जाती । काबुल के अमीर साहब और हैदराबाद के निज़ाम साहब

ने मुसलमान होते हुए भी विशेष आज्ञा द्वारा अपने-अपने राज्य में गौहत्या रोक दी है, आप क्षत्रिय राजा हैं आप भी गौ जाति पर दया करके ऐसा करें ।"[10]

विद्यार्थी जी मुसलमानों से अनुरोध करते हुए कहा करते थे कि - "आप 22 करोड़ भाइयों के हृदय के भावों का इतना भी ख्याल नहीं कर सकते कि देशभर में नहीं तो कम से कम पवित्र हिन्दू नगरों में गाय की कुर्बानी न करें ।"[11] तत्कालीन मुसलमानों के लोकप्रिय नेताओं मिस्टर मज़रहुल हक़, राजा साहब महमूदाबाद से उन्होंने अपील की थी कि - आप अपने धर्म भाइयों को बहुत कुछ सीधे रास्ते पर ला सकते हैं । आप से हमें आशा है कि इस मामले को अपने हाथ में लेंगे । विद्यार्थी जी प्राय: इस प्रकार के मामलों पर दु:खी हो जाया करते थे । वे चाहते थे कि मुसलमान भाइयों को देश के नाते इन झगड़ों को समाप्त कर देना चाहिए । इस प्रकार के झगड़ों को जितना अधिक बढ़ाया जाएगा उतना ही वे बढ़ेंगे । देश के लिए अपनी ज़िद और हठ की शीघ्र कुर्बानी कर डालनी चाहिए । वास्तव में जब एक पक्ष की गतिविधियों से दूसरे पक्ष को ठेस लगे और आपस में वैमनस्य उत्पन्न हो तो किसी एक पक्ष को राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता के लिए झुक जाना चाहिए । अब हिन्दू गौहत्या के मामले

में मुसलमानों को कतई रियायत देने को तैयार नहीं जबकि मुसलमानों के लिए गोहत्या अनिवार्य नहीं है ।" तो विद्यार्थी जी की बात ठीक ही कही जाएगी कि भावनात्मक रूप से आपको एक पक्ष को चोट नहीं पहुंचानी चाहिए । हिन्दू और मुसलमान खिलाफत आंदोलन में साथ रहे हैं । आगे भी यह एकता स्थापित हो सकती है । सरकार के आदेशों की प्रतीक्षा करना मूर्खता होगी ही । सरकार तो चाहती थी कि दो सम्प्रदाय लड़ते रहें, यही सरकार के लिए उपयुक्त होगा ।

जैसा कि अभी बताया गया है कि विद्यार्थी जी ने मुसलमानों से हिन्दुओं की भावनाओं को ठेस न पहुंचाने की अपील की, इसी प्रकार की अपील उन्होंने हिन्दुओं से भी की । अपील का तात्पर्य था, अमन चैन बनाए रखना । यह अपील उन्होंने 1917 में 'परीक्षा का समय' नामक लेख लिखकर की थी -

"दशहरा और मोहर्रम एक साथ पड़ने वाले हैं । एक खुशी का त्योहार है और दूसरा रंज का । यह बुरा है कि एक भाई के खुशी के अवसर पर दूसरे के मातम का दिन पड़े । ये दोनों अवसर टाले नहीं जा सकते । परन्तु इनसे कोई दैविक विपत्ति का जन्म होता, जो हटाई ही नहीं जा सके । गिरती हुई बिजलियां नहीं रोकी जा सकतीं परन्तु यदि जी चाहे तो मेलजोल करके आपस के झगड़ों की जड़ आसानी

से अवश्य काटी जा सकती है । मतलब यह है कि इस अवसर पर देश भर में कहीं कोई भी झगड़ा न होना चाहिए । यह बात तनिक भी कठिन नहीं है । जब यह कहते हैं कि हम हिन्दू और मुसलमान, दोनों मिलकर स्वराज्य चाहते हैं, तब अपने इस मेल का विश्वास हम दूसरों को कैसे दिला सकते हैं, जब सड़ी-सड़ी सी बातों पर एक-दूसरे का सिर फोड़ने के लिए तैयार हो । मोहर्रम और दशहरा सड़ी बातें नहीं हैं, सड़ी बातें हैं वे कारण, जिनसे झगड़े की नौबत आ जाती है। यदि एक दूसरे की सुविधा का ख्याल रखा जाए, हृदय की हृदय में राह हो, नेकनीयती और सुलह-मिजाजी, बिरादराना मोहब्बत और देश कल्याण की दृष्टि से काम किया जाए तो कभी बात बिगड़े ही नहीं । हम अपने हिन्दू भाइयों से प्रार्थना करते हैं कि यदि आवश्यकता पड़े तो वे अपना हाथ नीचे रखने के लिए तैयार रहें । यदि उनके मुसलमान पड़ोसियों की इच्छा हो कि उनके यहां इस अवसर पर बाजे न बजे, तो ये बाजे न बजायें । बिना बाजे बजाए भी वे खुशी मना सकते हैं । बाजों की मधुर ध्वनि का अंत कलह की विकराल गूंज के साथ नहीं होना चाहिए । हिन्दू यह न समझें कि हम उनसे दबने के लिए कह रहे हैं । यह दबना नहीं है । क्या जिस समय आपके पड़ोसी के घर मातम छा रहा हो और वह आप से यह चाहे कि आप राग न अलापें, क्योंकि इससे उनका दुःख बढ़ता है, तब क्या उसकी बात मान लेना दबना

कहलाएगा ? नहीं, उस समय उसकी बात मान लेना मनुष्यता होगी और न मानना पिशाचिता । कहिए, आप कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहते है ?"[12] हिन्दू और मुसलमानों के बीच फूट न पड़े इस तरह की टिप्पणी उन्होंने दोनों समुदायों के लिए सुझाव के रूप में रखी जो इस तरह से है :

"साधारण श्रेणी के बहुत से मुसलमानों में अनुचित ढंग से जोश फैला हुआ है।ये हिन्दुओं से शत्रुता मानते जा रहे हैं । स्वराज्य आंदोलन से हटते जा रहे हैं और चिंता में हैं कि मुस्लिम-लीग को तोड़-ताड़ कर उसकी कब्र पर एक दूसरी कट्टर संस्था को स्थापित करें । केवल एक आरे के दंगे के कारण ऐसा हो रहा है । जो मुसलमान इस समय जोश के कारण आपे से बाहर हैं उनसे बिल्कुल मित्रता के नाते से हमारा यह प्रश्न है कि धार्मिक कट्टरता के कारण किस वर्ग के साधारण लोगों पर बड़े से बड़े अत्याचार नहीं हुये ? संसार का कोई भी वर्ग इस प्रकार की पशुता से अछूता नहीं बचा होगा । हम यह भी नहीं कहते कि यह पशुता सार्वदेशिक और सार्वजनिक है, इसलिए क्षम्य है । नहीं, हम स्पष्ट रूप से कहते हैं कि समाज के कल्याण के लिए सब प्रकार की पशुता को वश में रखना और अपराधियों को दंड देना आवश्यक है परन्तु किसी भी अवस्था में कुछ आदमियों के अपराध पर उनका पूरा वर्ग अपराधी नहीं माना जा सकता । आरे के कुछ हिन्दुओं

ने अपराध किया है तो सभी हिन्दुओं को अपराधी मान बैठना अन्याय और अदूरदर्शिता है ।"[13]

"हम न हिन्दू हैं और न मुसलमान । मातृ-भूमि का कल्याण ही हमारा धर्म है और उसके बाधकों का सामना करना ही हमारा कर्म । पंडित हो या मौलवी, धर्म हो या कर्म, मातृ-भूमि के हित के विरूद्ध किसी की भी व्यवस्था हमें मान्य नहीं । मातृ-भूमि का अपराधी चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान कोई भी हमारे तिरस्कार से भाग नहीं सकता ।"[14]

"अब केवल उसी को मातृ-भूमि का सच्चा भक्त कहा जाए जो केवल देश के लिए जिये और उसी के लिए मरे, जो मनुष्य को पशु से श्रेष्ठ समझे और मनुष्यता को पशुता से ऊँचा माने, जो एक गाय की रक्षा के लिए शांति का नाश न करे और मनुष्यों के गले न काटे और जो केवल अपनी सनक और कट्टरता पूरी करने के लिए अपने पड़ौसियों के हृदय को पैरों तले न रौंदे और मूर्ख और स्वार्थी आचार्यों के बहकावे में न आवे । यही समस्या का हल है । क्या हर्ज जो इस समय फूट बढ़ जाये ।"[15]

विद्यार्थी जी जब भी सम्प्रदायों की समरसता की बात आती प्रसन्न हो जाते थे, लेकिन गम्भीरता से सोचने पर वे चिंतित भी

हो जाते थे। वे जानते थे कि हिन्दू-मुसलमानों में ऊपरी तौर पर एकता के जो समझौते होते हैं, ये एक तरह से नाटक ही सिद्ध होते हैं ।

विद्यार्थी जी को इस संबंध में समय-समय पर हिन्दू-मुसलमानों की एकता टूटने के उदाहरण घर कर जाते थे । ऊपरी तौर पर हुए समझौतों की तुष्टीकरण की नीति उन्हें न भाती थी । जब 1916 में लखनऊ कांग्रेस में हिन्दू-मुसलमानों की एकता का जो समझौता हुआ उसके परिणामों पर उन्होंने टिप्पणी की थी - "इस समय शासन के समस्त कामों में जातीय विभाजन और सौदे का दृश्य दिखाई दे रहा है।कहीं भी राष्ट्रीय ढंग से काम करने की क्रिया के लिए कोई स्थान बाकी नहीं रह गया है । इस समय (अर्थात 1927 में) प्रान्तों के जातीय आधार पर विभाजन का जो समझौता कांग्रेस के क्षेत्र में सबके सामने उपस्थित है, वह हमारी धारणा है ।"[16]

विद्यार्थी जी सच्चे राष्ट्रवादी के रूप में दोनों समुदायों के झूठे अहं को हमेशा कोसते रहे । एकओर वे हिन्दुओं की श्रेष्ठता पर चोट करते थे दूसरी ओर वे मुसलमानों के धार्मिक नेताओं द्वारा जारी फतवों पर भी रोष प्रकट करते थे । उन्हें केवल राष्ट्र ही दिखाई देता था राष्ट्र भी वह जिसमें सभी देशवासी आपसी भाई चारे के साथ रहे । विद्यार्थी जी दोनों समुदायों की संकीर्णता पर इस तरह चिंता व्यक्त करते थे - "एक तरफ हिन्दुओं की उच्चता और श्रेष्ठता और छुआछूत

की भावना जहर घोल रही है और दूसरी ओर मुसलमानों की ऐंठ फतवे और काबुल-अरब परस्ती का अन्त कर रही है । आगे चलकर यह धक्के और भी जोरों से लगेंगे । हिन्दुओं की जाति-पांति, छुआछूत और श्रेष्ठता का घमण्ड उड़ जाएगा । मुसलमानों की उद्दण्डता और देश-प्रेम लापता हो जाएगा । ऐसा हुए बिना न रहेगा । इसके पहले सच्चा मेल-मिलाप होगा भी नहीं ।"[17] अन्त में विद्यार्थी जी इसी बात को इन पंक्तियों में समाप्त करते हैं । ये पंक्तियां उन्होंने पार्टी के सदस्य होने के बावजूद कांग्रेस कार्यकर्ताओं को सचेत करने के लिए लिखी थी - "कांग्रेस के कार्यकर्ता झूठे और क्षणिक मेल-मिलाप के मोह में न फंसें । जो कुछ चाहे, और जिस बात के लिए उद्योग करें वह हो राष्ट्रीय आधार लेकिन हो देश को दृढ़ करने वाला । उससे न केवल हिन्दुओं को बल मिले, न केवल मुसलमानों को । कांग्रेस केवल हिन्दुओं या मुसलमानों या सिक्खों या ईसाईयों के लिए तो कुछ न करे । वह जो कुछ करे सबके लिए करे और सबके ख्याल से करे ।"[18] सन् 1922 में मुल्तान और तेलीपाड़ा में दंगे हो गए । वहां पर हिन्दू और मुसलमानों में आपसी प्रेम तथा एकता बनी हुई थी । यही एकता कुछ लोगों को बुरी लगी इसको तोड़ने में उन्हें आंशिक सफलता तो मिली लेकिन उनकी खुशी चिरस्थायी नहीं थी। इस पर विद्यार्थी जी ने एकता भंग करने वालों को आड़े हाथों लिया तथा एकता बनाए रखने के लिए दोनों सम्प्रदायों

की सहनशीलता पर प्रसन्नता जाहिर की - "मन चले लोगों को इन दंगों से हिन्दू-मुस्लिम एकता का ढाका उड़ाने का मौका मिल गया है। परन्तु हिन्दू-मुस्लिम एकता का भवन ऐसा है जिसको कमजोर नींव पर नहीं उठाया गया है कि वह इन धक्कों से ढह जाए। हाँ, इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के दंगे हमारे राष्ट्रीय जीवन के ऐसे भयंकर खतरों की ओर संकेत करते हैं जिनसे सैकड़ों वर्षों से रात-दिन एक साथ रहने वाले पड़ोसियों का जरा सी बात पर पलभर में, एक दूसरे का जानी दुश्मन बनकर पागलों की तरह लूट-पाट और मारकाट शुरू कर देना है।"[19]

विद्यार्थी जी हिन्दू और मुसलमानों के आपसी झगड़ों के कारण तथा अप्रत्यक्ष शक्ति के बारे में अच्छी तरह से परिचित थे। इन झगड़ों को कैसे रोका जाए तथा जनता अपनी तरफ से इनमें क्या-क्या योगदान दे सकती है। इस पर उनका 1924 में लिखा "ये झगड़े" शीर्षक नाम से यहां उद्धृत किया जा रहा है जो आज भी 70 वर्ष बाद सांप्रदायिक सद्भाव के लिए प्रासंगिक है :

"देश भर में हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े हो रहे हैं। कहीं कम कहीं ज्यादा। सन् 1921 और 1922 में ये झगड़े दब गए थे। उनका अन्त नहीं हुआ था। हम कहते थे, हिन्दू और मुसलमान घी और शक्कर हो गए हैं। हम एक हैं और आगे भी एक रहेंगे। हमारी यह धारणा भ्रामक थी, हमें अंग्रेजों से घृणा थी। हम समझते थे कि अंग्रेज

और अंग्रेजी राज्य ही हमारी समस्त विपत्तियों का मूल कारण है। हम चाहते थे कि इन दोनों का नाश हो, इसी घृणा के आधार पर देश के ये दो समुदाय हाथ में हाथ मिलाकर आगे चलने को तैयार हुए थे। सच्ची प्रीति न थी। हमने एक-दूसरे को भलीभाँति समझा भी न था। इस्लाम के सिद्धान्तों और दृढ़ व्यवहारों के रहस्यों को हिन्दुओं ने नहीं जाना था। सच्चा मेल उसी समय होता है जब तबियतें जान ली जाए। इसीलिए घृणा के आधार पर खड़ी की गई यह बालू की दीवार गिर गई। जो कुछ बाकी है वह भी गिरती जा रही है। हम धोखे में थे। ईश्वर करे हम आगे से इसी प्रकार धोखा न दे। अब भी हम अपने झगड़ों का दोष शासक समुदाय पर डाला करते हैं। हमारे शासक विदेशी हैं। वे थोड़े से हैं। उन्हें इतने बड़े देश और इतने आदमियों पर शासन करना पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि हममें यदि कुछ कमजोरियाँ न हों तो ये इने-गिने शासक हम पर शासन कर ही न सकें। उन्हें इस बात के लिए विवश होना पड़े कि शासन हमारे ही हाथों में देकर स्वयं विश्राम करें। हिन्दू-मुसलमान झगड़ों से उन्हें अपने शासन के काम में अनेक सुविधाएं मिलती हैं।"[20]

विद्यार्थी जी इन झगड़ों की समाप्ति के लिए प्रशासन की लापरवाही एवं शिथिलता की आलोचना तो करते ही थे, साथ में जनता की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते थे। विद्यार्थी जी के विचार में

अंग्रेजी प्रशासन को दंगे शांत करने में रुचि क्यों होगी ? इनसे तो अंग्रेजी प्रशासन के हित ही सधते हैं । विद्यार्थी जी चाहते थे कि जनता स्वयं झगड़ों का विरोध करे, इनमें भाग न ले । जो लोग आपस में लड़ाने की बातें करते हैं, दोनों समुदाय उनका विरोध करे तब ही ये झगड़े शांत हो सकतेहैं। इसी से प्रशासन की कठपुतली बनकर झगड़ा कराने वाले तत्वों को निरुत्साहित किया जा सकता है । विद्यार्थी जी सभी धर्मों का सम्मान करते थे और कहते थे कि - "ऐसा कौन-सा मज़हब है जो कहता है कि जिस बात को तुम अपने लिए बुरा समझो वह दूसरे के लिए अच्छी है ? कौन-सा धर्म कहता है कि तुम्हारी उपासना गृह तो पवित्र है और दूसरो की ठोकरें मारे जाने के योग्य, तुम्हारी स्त्रियां प्रतिष्ठा के योग्य है और दूसरों की बेइज्जत किए जाने के लायक ।"[21] आम जनता के लिए उनका यही संदेश था कि सभी धर्मों के मानने वाले लोगों को एक-दूसरे के धर्म का सम्मान करना चाहिए । किसी बात से एक धर्म वाले को कोई आपत्ति हो तो दूसरे को सहिष्णुता का परिचय देना चाहिए । जनता को एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काने वालों का सामूहिक विरोध होना चाहिए । इन बातों को लोग समझ जायंगे तो शायद इन झगड़ों का, दंगों का अन्त हो जाए । इन झगड़ों का अन्त हो जाएगा तो राष्ट्र भी मजबूत बनेगा तथा उसमें नई चेतना उत्पन्न होगी । शायद वह चेतना राष्ट्र की दासता को भी उखाड़ फेंकेगी ।

यदि कोई मुसलमान मूर्ति तोड़ता है, स्त्रियों को बेइज्जत करता है, उत्पात करता है और दूसरे समुदाय के चित्त को दुखाता है, तो स्पष्ट शब्दों में उसका तिरस्कार किया जाए । यदि कोई हिन्दू मस्जिद को अपवित्र करे, स्त्रियों को तंग करे और दूसरे समुदाय के चित्त को क्लेश देने वाले उत्पात करे, तो उसका भी पूरा तिरस्कार हो । दुनिया भर के मुल्ला और मौलवी भले ही उसका साथ दे दें परन्तु ये तिरस्कार करने वाले लोग कदापि भयभीत न हों । एक ओर गुंडो दुष्टों की इस प्रकार प्रताड़ना हो दूसरी ओर भले लोगों के लिए एक साथ मिलकर राष्ट्रीय आयोजन होली और ईद दीवाली और बकरीद, दशहरा और बड़ा दिन श्रावणी और नौ रोज एक समान मनाए जाए । गुंडों से स्त्रियों की रक्षा करने के लिए युवक आगे बढ़ें । वे शपथ लें कि - "विपत्ति में पड़ी हुई सताई जाने वाली स्त्री चाहे वह मुसलमान या ईसाई, मेरी माँ के तुल्य होगी । उसकी रक्षा के लिए मैं सब कुछ अर्पण कर दूँगा ।" समस्त इन अवसरों पर जिनपर देश के विविध समुदाय, न केवल हिन्दू और मुसलमान ही, किन्तु पारसी, ईसाई और यहूदी भी एक जगह मिल सकें, उन्हें मिलाया जाए, एक के कंधे पर दूसरे का हाथ रखकर चलना सिखाया जाए । इस प्रकार कट्टरता और पक्षपात के आधार पर नहीं, केवल राष्ट्रीय आधार पर देश जगाया जाए । ज्यों-ज्यों वह जगेगा, त्यों-त्यों वह मजबूत होता जाएगा और एक दिन चाहे वह दिन कुछ दूर भले ही हो इन झगड़ों का शुभ अन्त हो जायेगा ।"[22]

.....

संदर्भ

1. हिन्दी-उर्दू झगड़ा (प्रताप)
सं. गणेश शंकर विद्यार्थी, अंक दिनांक 24.1.1916.

2. उर्दू विश्वविद्यालय (प्रताप)
सं. गणेश शंकर विद्यार्थी, अंक, दिनांक 4.6.1917.

3. अछूतों की छूत (प्रताप)
सं. गणेश शंकर विद्यार्थी, अंक, दिनांक 29.11.1920.

4. फुटकर विचार (प्रताप)
सं. गणेश शंकर विद्यार्थी, अंक, दिनांक 10.3.1924.

5. वही, दिनांक 11.8.1924

6. वही, दिनांक 28.4.1924.

7. स्वामी जी का स्मारक, प्रताप, 9.1.1927.

8. मनुस्मृति जब्त क्यों, प्रताप, 23.10.1927.

9. स्वामी श्रद्धानंद का बलिदान, प्रताप, 26.12.1926.

10. कुर्बानी किसकी " 14.4.1924.

11. फुटकर विचार " 14.4.1924.

12. परीक्षा का समय " 15.10.1917.

13. कठिन समस्या " 17.11.1917.

14. वही, " 17.11.1917.

15. वही, " 17.11.1917.

16. भ्रमात्मक प्रयास " 23.10.1927.

17. वही, " -

18. वही, " -

19. हिन्दू मुस्लिम एकता " 18.9.1922

20. ये झगड़े " 28.4.1924.

21. वही, " 28.4.1924.

22. वही, " 28.4.1924.

अध्याय - चार

निष्कर्ष

निष्कर्ष

साधारण परिवार में जन्में और अल्पशिक्षित गणेश शंकर विद्यार्थी ने समाज सेवा, पत्रकारिता तथा साम्प्रदायिक सद्भाव बनाने में बहुत योगदान किया है । कांग्रेसी होते हुए भी राष्ट्र हित में उन्होंने अपने निष्पक्ष विचारों की छाप छोड़ी । देश में असमानता फैलाने वाले कांग्रेस पार्टी के निर्णयों का विरोध, वोट प्राप्त करने के लिए हिन्दू-मुसलमानों का समय-समय पर तुष्टीकरण आदि । स्वतन्त्रता आंदोलन के दौरान वे हिंस और अहिंसक दोनों तरह के संघर्षों के पक्षपाती रहे । क्रान्तिकारियों को समय-समय पर सहयोग देते रहे । उनके परिवारों का भी उन्होंने जीवन-पर्यन्त ख्याल रखा । बेशक कांग्रेस पार्टी भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, राजगुरू, सुखदेव, रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनलाल लाहिड़ी, अशफाक़ उल्ला खाँ आदि की विचारधारा से सहमत नहीं थी, लेकिन गणेश शंकर विद्यार्थी ने उनका कभी विरोध नहीं किया । विरोध की बजाय उनका साथ दिया । वह इसलिए भी कि - आखिरकार वे भी तो आजादी प्राप्त करने के लिए लड़ रहे थे ।

उन्होंने देश के किसान-मज़दूरों की समस्याओं को समय-समय पर उठाया । किसान-मजदूर आंदोलनों का नेतृत्व भी किया । जहाँ भी दुःख-यातना देखी अपनी व्यावहारिक उपस्थिति उन्होंने दर्ज की ।

अखबार में समस्याओं पर गौर करके वे एक वातावरण तैयार करते थे जिससे कि समस्याओं के निदान के लिए सरकार आगे आये । लोगों को भी सच्चाई का पता चले । इसीलिए अंग्रेजी सरकार के लिए उनका साप्ताहिक "प्रताप" आंख की किरकिरी बना रहा । 'प्रताप'ने अन-आंदोलन का रूप ले लिया था । देश में किसान मज़दूरों की समस्याएं, विदेशों में भारतीयों पर अत्याचार, अंग्रेजों की समाज में विकृति फैलाने वाली बातों का "प्रताप" जमकर विरोध करता था । समाज को जागृत करता था । यही नहीं भगतसिंह जैसे क्रांतिकारी ने भी प्रताप-कार्यालय में छद्म नाम से कई दिन व्यतीत किए थे, लेख भी लिखे थे । "प्रताप" क्रांतिकारियों की शरणस्थली भी रहा । गणेश शंकर की क्रांतिकारियों से गहरी सहानुभूति थी । सरकार ने "प्रताप" को बंद करवाने के काफी प्रयास किए, लेकिन सरकार पूरी तरह से सफल नहीं हुई । देश-हित में "प्रताप" को अपने मात्र 18 वर्षों के प्रकाशन-काल में कई बार प्रकाशन बंद करना भी पड़ा तथा कुल 4500रू॰ की जमानत राशि समय-समय पर गँवानी पड़ी ।

गणेश शंकर की विचारधारा में लचीलापन नहीं था । समय के बहाव के साथ वे बहे नहीं । यही कारण है कि उन्होंने कथनी और करनी में अन्तर नहीं किया । जितना उन्होंने अंग्रेजों का विरोध किया उतना ही देशी रियासतों का भी किया । जहाँ भी जनता दुःखी होती

थी, वे उस रियासत को आड़े हाथों लेते थे । ग्वालियर और पटियाला के शासकों ने "प्रताप" का विरोध किया तथा ग्वालियर रियासत में तो 'प्रताप' के प्रवेश पर प्रतिबन्ध भी लागू किया गया । लेकिन 'विद्यार्थी' जी विचलित नहीं हुए । बेशक वे युक्त-प्रान्त में रहते थे लेकिन सभी प्रान्त उनके लिए समान थे ।

आरा, कलकत्ता, ढाका, दिल्ली, कानपुर आदि में जब भी सामाजिक सद्भाव पर चोट पड़ी, अखबार के माध्यम से उन्होंने जनता से सामाजिक सद्भाव बनाए रखने की अपीलें कीं । साथ में प्रशासन की शिथिलता की धज्जियाँ भी उड़ाईं । 'विद्यार्थी' जी जीवन-भर हिन्दू-मुस्लिम जनता की एकता के लिए प्रतिबद्ध रहे लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली । उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अपना अखबार,परिवार, राजनीति यहाँ तक जीवन भी दांव पर लगाया ।

अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गणेश शंकर विद्यार्थी उन कुछ-एक व्यक्तियों में हैं जिन्होंने मुस्लिम जनता को उतना ही राष्ट्रवादी एवं देशभक्त समझा जितना की हिन्दुओं को । वे साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए दोनों समुदायों को एक-दूसरे की धार्मिक भावनाओं का सम्मान की सलाह देते थे । यदि इस सलाह का पालन किया जाता तो देश में उस दौर में इतने अधिक दंगे न होते, जितने धार्मिक हुए । धर्म व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तक तो ठीक है लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर इसकी

व्यापकता तथा कट्टरता खतरनाक होती है । मजहब के नाम पर राष्ट्रीय पहचान राष्ट्र के लिए खतरा ही पैदा कर सकती है । गणेश शंकर के लिए सभी सम्प्रदायों की समरसता समेटे राष्ट्र ही प्रमुख था । उनकी चिन्ता देश तथा देशवासी थे । यही कारण है कि वे एक प्रमुख कांग्रेसी नेता होने के बावजूद कराँची में कांग्रेस वर्किंग कमेटी में शामिल न हुए । अपनी राजनीति चमकाने की चिन्ता छोड़ी, अपने परिवार की चिन्ता छोड़ी और देशवासियों की जीवन-रक्षा के लिए दंगों को रोकने के लिए अपनी आहुति दे दी । साम्प्रदायिक सद्भाव का ऐसा अनुपम उदाहरण साम्प्रदायिक तनाव के काल में टोहे भी नहीं मिलता । अनेक राष्ट्रीय नेताओं को उनकी जीवन आहुति से इसीलिए भी ईर्ष्या हुई । इस प्रकार की समस्या के निदान के समय गणेश शंकर ही हमें मार्गदर्शक के रूप में खड़े नज़र आते हैं । स्वतंत्रता आंदोलन के समय ऐसे त्याग, बलिदान की प्रतिमूर्ति हम नहीं पाते हैं । 40 वर्ष, 4 माह और 29 दिन की थोड़ी सी उम्र में उन्होंने राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की । यह ठीक है कि उनका मकसद देश आज़ाद कराना था; इसके लिए देशवासियों को जागृत कर रहे थे लेकिन इसके साथ ही उनकी मुख्य चिन्ता थी कि आजादी की प्राप्ति के समय राष्ट्र भी एक रहे । हालाँकि उनका यह स्वप्न बाद में साकार नहीं हुआ । उन्होंने सम्भवत: समय-समय पर हिन्दू मुस्लिम नेताओं के बयानों से तथा उनकी कार्य-प्रणाली से यह भांप लिया था कि आगे जाकर देश के टुकड़े हो

सकते हैं । इसी खतरे से बचने के लिए उन्होंने राष्ट्रीयता पर अनेक लेख लिखे जो आज भी प्रासंगिक हैं । हिन्दू-मुस्लिम एकता पर भी अनेक लेख लिखे जो सामाजिक सद्भाव के क्षेत्र में आज राष्ट्र की एक धरोहर के रूप में हमें एक रहने का संदेश देते हैं । राष्ट्र की एकता में बाधा पहुँचाने वाली बातें जैसे भाषा-विवाद, धर्म, क्षेत्रवाद तथा धर्मों के अन्दर समुदायवाद आदि की वे कड़ी निंदा करते थे । इस प्रकार की धारणाओं को फैलाने वाले नेताओं व सरकार की नीतियों के वे पक्षधर न थे । वे राष्ट्र हित में नीर-क्षीर विवेक करते थे । निस्संदेह वे कबीर की परम्परा के व्यक्ति थे, जो मनुष्य को मनुष्य की भाँति रहना सिखाते हैं तथा संकीर्णता से जनता को दूर रहने का आग्रह करते हैं । लेकिन गणेश शंकर ने तो अपना बलिदान देकर अपनी इन बातों को चरितार्थ ही कर दिखाया ।

.....

परिशिष्ट

आशा या दुराशा - गणेश शंकर विद्यार्थी

वर्तमान कलह की घनघोर घटाओं में प्रकाश की रश्मियों को विलीयमान होते एवं निराशा की छाया को प्रतिक्षण लम्बी और उससे भी अधिक लम्बी होते देख हमारे एक आदरणीय जन हमसे कहने लगे "आप जितने लोग आज राष्ट्रीयता-राष्ट्रीयता का राग अलपाते हैं वे सब एक-दो वर्ष के भीतर ही हिन्दू संगठन की परिपाटी के अनुसार कार्य करने पर बाध्य होंगे । मेल मिलाप की सब बातें छूट जाएंगी । मेरी यह बात आप लिख लीजिए ।" हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष के अंत होने का स्वप्न देखने वालों के लिए यह विचार शैली एक चुनौती है। वास्तव में झगड़े इसलिए होते हैं कि अन्तर तर में एक-दूसरे का खून पीने का स्वप्न देखते हैं वे केवल इस आधार पर कि एक दिन भारत का जन-समूह अपने हृदय से शैतान को निकाल कर बाहर करेगा और उसकी जगह वह सहृदयी सौम्यता, सौजन्य और सुशीलता की स्थापना करेगा । विकास सृष्टि का नियम है । भौतिक जगत में विकास होता है तो फिर हमारे सदृश आशावादी यह क्यों न कहे कि हमारे देश के हिन्दू-मुसलमानों के हृदय विकसित होंगे । वे अपनी मूर्खताओं को अनुभव करेंगे और उनसे बाज आएंगे ? लोग कहेंगे - यह तो आप सदियों तक कारगर

हाने वाला नुस्खा बतला रहे हैं । हमारा विनम्र निवेदन यह है कि बात ऐसी नहीं है । यदि आप हम सब इस अंतिम उद्धार के सिद्धान्त पर दृढ़तापूर्वक विश्वास करने लगे तो हमारा तमाम दृष्टिकोण बदल जाए और उसका फल कल ही प्रकट होने लगे । यदि हम यह समझ लें कि वर्तमान कलह एक अस्वाभाविक और विषाक्त एवं साथ ही क्षणस्थायी वस्तु है तो फिर हम अपने गुण्डों को दूसरी जाति के नेताओं के वध के लिए कदापि उत्साहित नहीं करेंगे और न ही इस बात की कोशिश करेंगे कि झगड़ों का सब दोष एक ही जाति पर थोपने में एड़ी-चोटी का पसीना एक किया जाए । इस भाव को ग्रहण करने के पश्चात् हमारे अंदर उदारता उपजेगी और हम सब मामलों पर व्यापक दृष्टि से विचार करने लगेंगे । किन्तु अपने आपको व्यवहार-कुशल कहने वाले हमारे कथन पर आपत्ति करेंगे ।

हम अपनी विधवाओं, अछूतों और निरीह कृषकों के उद्धार के समर्थक हैं और उस दिशा में काम करने वाले मनीषियों का अपने आपको एक छोटा-सा सेवक समझते हैं । किन्तु हम सदा इस बात का विरोध करते आए हैं कि हमारी संगठन भावना आक्रामक हो । हम हिन्दुत्व का उरूज देखने के लिए उत्सुक हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि रमजान को पछाड़ा जाए । हम तो हिन्दू समाज से कहते हैं कि मुस्लिम विद्वेष से प्रेरित होकर हिन्दू संगठन के पुनीत कार्य को दूषित न करो, क्योंकि संगठन एक स्थायी एवं नित्य वस्तु है और यह विद्वेष तो

मूहर्त्त मात्र में विलुप्त हो जाने वाला राष्ट्रीय जीवन का अंग । हम इस कलह को अस्थायी मानते हैं । हम समझते हैं कि मुसलमान समाज दुनिया के अन्य सम्प्रदायों के समान ही अपनी शिशुकालीन कट्टरता और धर्मान्धता को बहुत पीछे छोड़कर आगे बढ़ेगा । कोई यह न समझे कि कुरान की कट्टरता मिश्रित शिक्षा ही इस्लाम का विशेष अंग है। हमारा तो यह विश्वास है कि लिखित अक्षरों की अपेक्षा यह मनुष्य प्राणी महत्तर वस्तु है । कुरान में बहुत सी बेहुदा बातें हैं । अन्य धर्मावलम्बियों के साथ नितान्त निंदनीय एवं सौजन्य-रहित संकुचित व्यवहार करने का आदेश कुरान देती है । मार-काट मचाने और लूट-खसोट करने के घृणित कार्य उस किताब में धर्म के नाम पर उचित ठहराए गए हैं । यह सच है परन्तु इसका क्या तात्पर्य है ? क्या यह जरूरी है कि अपने आपको मुसलमान कहलाने वाला सम्प्रदाय इन सब ग्रहित कृत्यों से अपने स्वभाव को सदा कलुषित बनाए रखे जो बात नैसर्गिक दृष्टि से करणीय नहीं - और जिन अत्याचारों से पूर्ण बातों का कुरान में उल्लेख है - उन सब बातों को छोड़ना पड़ेगा । मुसलमान समाज यदि संसार में अपनी हस्ती कायम रखना चाहता है तो उसे इन सब अन्ध विश्वासों की परिधि से बाहर निकालना पड़ेगा, उसे नैतिक सदाचार के मापदण्ड के अनुसार अपना जीवन निर्वाह करना होगा । उसे मुल्ला और मौलानाओं के अनैतिक उपदेश के प्रभाव से मुक्त होना पड़ेगा और हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि मुसलमान समाज इस ओर अवश्य अग्रसर होगा । दुनिया

के जितने पुराने धर्म हैं उन सब में इस प्रकार परिवर्तन हुए हैं । हम हिन्दुओं ने भी इस प्रकार के परिवर्तन किए हैं । वेदों में अनार्यों को दांत से चबा देने की आज्ञा है । किन्तु आगे चलकर उन्हीं वेदवादी हिन्दुओं ने अनार्यों, द्रविड़ों को हिन्दुतत्व की दीक्षा दी और हिन्दुतत्व को द्रविड़ देशवासी शंकर और रामानुज वल्लभ और माधव के नाम पर गर्व है । यह दांत से चबा देने वाली बात कहां गई ? उसका लोप हो गया । क्यों ? इसलिए कि लिखित अक्षर मनुष्य की उत्क्रान्ति में बाधक नहीं हो सकते । यदि वे बाधा अटकाते हैं तो मनुष्य अपने विकास मार्ग से उन रोड़ों को ठुकराकर हटा देते हैं । मुसलमान समाज को भी एक न एक दिन कुरान की उन सब {बातों को} आयतों को बोलाए तक रख देना पड़ेगा जिनके कारण उनके पूर्ण विकास में बाधा पड़ती है और उसे अपनी पड़ौसिन जाति के साथ शांति से नहीं रहने देती । मनुष्य समाज परिवर्द्धित और परिष्कृत होता जाता है । मनुष्य बढ़ता है । देश की वर्तमान अवस्था चाहे कितनी ही खराब क्यों न हो हमारा यह विश्वास है कि मनोवृत्ति के परिवर्तन की घड़ियां नज़दीक आ रही है । हिन्दुओं में परिवर्तन हो रहा है । मुसलमान आज प्रवाह मे बहते दिखाई जरूर पड़ रहे हैं, परन्तु उनका और पतवार संभलकर अपना रुख मोड़ देने का दिन भी बहुत दूर नहीं है । जब अन्धकार से जी ऊब जाता है और सच्चे दिल से प्रकाश प्राप्ति की प्रार्थना होती है तभी आलोक आता है।अब जी ऊब उठा है।अंधेरा असहनीय हो रहा है । हम देख रहे हैं कि इस अंधेरे के कारण सब ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है । इसलिए हम आशा करते हैं कि मानस शिक्षित को, बादलों के कोट से कभी आवृत्त नहीं होने देंगे ।